श्रीकृष्ण-सन्देश

वर्ष : ६ • अंक : ११

नीतिवचनामृत

परदारान् परार्थं च परिहासं परस्त्रिया ।
परवेश्मनि वासं च न कुर्वीत कदाचन ॥

पर दारा पर धन-हरन परतिय-सँग परिहास ।
कतहूँ कवहुँ न कीजिये पर घर वीच निवास ॥

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या प्रियंवदा ।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥

प्रिय वोलति, गृह-कृति-कुसल, पतिको प्रान-समान ।
सती धर्मरत रहति जो भार्या सोइ सुजान ॥

दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः ।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः ॥

दुष्ट वधूटी मित्र सठ सेवक बात न मान ।
जहाँ भुजग वासिबो तहाँ मृत्यु असंसय जान ॥

सद्भिः सङ्गं प्रकुर्वीत सिद्धिकामः सदा नरः ।
नासद्भिरिह लोकाय परलोकाय वा हितम् ॥

सुजन संग कीजै सदा जो आपन भल चाह ।
दुष्ट संग ते होत नहिं इह-पर लोक निवाह ॥

[गरुडपुराण अध्याय १०८]
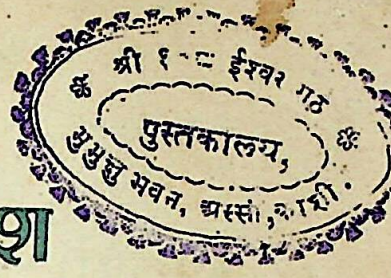
श्रीकृष्ण-सन्देश

धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक

प्रवर्तक

ब्रह्मलीन श्री जुगुलकिशोर बिरला

● संख्या

वर्ष : ६, अङ्क : ११

जून, १९७१

श्रीकृष्ण संवत् : ५०७०

● शुल्क

वार्षिक : ७ रु०

आजीवन : १५१ रु०

सम्पादक ●

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

प्रबन्ध-सम्पादक

देवधर शर्मा

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

विषय-सूची

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान : प्रेरणाप्रद

प्रत्यक्षदर्शियोंके उद्‌गार

(जून १९७१)

यह स्थान दिव्य है, यहाँकी तरङ्गोंमें शान्तिका संगीत छिपा है। चेतना अन्तर्मुख होने लगती है। नामकी स्वर लहरी लहराने लगती है। जीवनमें आलोक और आनन्दकी धारा बहने लगती है। अनुभूति इसका प्रमाण है।

स्वामी आनन्ददेव अवधूत
शिवानन्द नरेन्द्र आश्रम
पो० इकौना, जि० बहराइच (उ० प्र०)

मैं आज अपनी पत्नीके साथ जन्मभूमिपर दर्शन करने आया। मन्दिरको देखकर और भगवान्‌का दर्शन करके चित्त प्रसन्न हुआ। व्यवस्था और सफाई आदि सुन्दर है।

कालीचरन भगत
१२।१, प्रेटोरिया स्ट्रीट,
कलकत्ता–१६

श्री भगवान् कृष्णजीको मन्दिर माँ दर्शन गर्ने। धेरे अगाड़ीकी धोक आज भगवान्‌को जन्मस्थल माँ दर्शनं गरी। पुरा गर्ने सौभाग्य मिल्यौ। नया मन्दिर चौड़ तयार होसर फेरी आउन पाई भनी भगवान सेग प्रार्थना है।

सहीरानी मल्ल
'कल्पना कुंज' लाजिम्पाट,
काठमांडू (नेपाल)

मैंने आज प्रथमवार श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके दर्शन किये, मनको एक अभूतपूर्व आनन्द मिला। भगवान्‌को जन्मभूमिके आज साक्षात् दर्शन हुए। भगवान्‌के श्रीविग्रहकी ओर दृष्टि जाती है तो वहाँसे हटना नहीं चाहती। श्रीदेवधरजीके सुन्दर प्रयासको देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। भगवान उनको इस कामके लिए प्रेरणा देते रहें। यही मेरो हार्दिक कामना है।

बनवारी लाल गोयनका
द्वारा मालचन्द बनवारीलाल
२०१ महात्मा गांधी रोड
कलकत्ता-७

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानका कण-कण श्रीकृष्ण-भावनासे अनुप्राणित प्रतीत होता है। यहाँकी दीवारोंमें श्रीकृष्ण-मुरली आज भी प्रतिध्वनित है। जन्मस्थानका पुनरुद्धार इस तथ्यका साक्षी है कि भारतकी भगवद्भावना अमर है। धर्मान्ध विधर्मियोंको तलवार उसके सामने सदैव कुण्ठित रही है और भविष्यमें भी रहेगी।

राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी,
एम० ए०, पी० एच-डी०, डी० लिट्
राजा बलवन्तसिंह कालेज, आगरा

किसी समय मैं भी मथुरावासी था। जन्मभूमिको किसी समय खण्डहरके रूपमें भी देखा था। आज विचित्र विशिष्ट परिवर्तन देखकर परम आनन्द हुआ।

लक्ष्मण प्रसाद पोद्दार
नं० २५, राजा सन्तोष रोड
अलीपुर, कलकत्ता-२७

जन्मभूमिका दर्शनकर हम सभी सुरीनाम (दक्षिण अमेरिका) से आकर कृतार्थ हुए। प्रबन्ध सुन्दर पाया। मनको बहुत शान्ति मिली।

पं० विष्णुप्रसाद तिवारी
नं० २५, राजा सन्तोष रोड
अलीपुर, कलकत्ता-२७

We visited this temple of Krishna on our way to Delhi today, the 14th, March 1971. We found it to be a very interesting temple and we wish its further improvement.

Mr. Martan Topey
Senior Executive Councillor,
Govt. of Sikkim,
Gangtok.

In Mathura, we have visited the birthplace of Lord Krishna, been very much impressed by the serenity and quietness. Holy Krishna.

T. Nakagawa & K. Tamaka
Shinjuku,
Tokyo, Japan.

It was a real delight and inspiration to spend two nights in the serene, quiet and holy atmosphere of Krishna Janmasthan which is rare to find in the traditionalp laces of pilgrimage. The trust deserves congratualations and support from every one in the country in this big and noble project which they have taken up with great zeel and devotion.

B. N. Maheswari
Joint Secretary,
Ministry of Finance,
Govt. of India.
New Delhi.

अत्यन्त आवश्यक अनुरोध

['श्रीकृष्ण-सन्देश'के प्रेमी पाठक और कृपालु ग्राहक ध्यान दें]

'श्रीकृष्ण-सन्देश' आपका अपना ही पत्र है और यथासमय आपकी सेवामें पहुँचता रहता है। आप समस्त सज्जनोंके सहयोगसे उत्तरोत्तर इसकी लोकप्रियता बढ़ रही है। 'श्रीकृष्ण-सन्देश'के प्रकाशनका उद्देश्य व्यावसायिक न होकर लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके लोकमङ्गलकारी सदुपदेशोंका जन-जनमें तथा घर-घरमें प्रचार-प्रसार करना है। साथ ही भगवान्के पावन जन्मस्थानके निरन्तर हो रहे विकास-कार्योंसे जन-समुदायको अवगत कराना है, जिससे सार्वजनिक सहयोगके द्वारा यह स्थान इस योग्य हो जाय कि यह देश-विदेशके जिज्ञासुओंके लिए आकर्षणका केन्द्र बन जाय और सबको दिव्य प्रेरणा प्रदान कर सके। यह सब तभी सम्भव है, जब 'श्रीकृष्ण-सन्देश' आप महानुभावोंके आन्तरिक सहयोगका संबल पाकर एक स्वावलम्बी पत्र हो जाय और प्रत्येक भारतीयके घर-घरमें पहुँचकर अपने दिव्य आध्यात्मिक एवं धार्मिक सन्देशको मुखरित कर सके।

अतः इसके मुद्रण, कागज और डाक-व्यय आदि पर जो महर्घताके कारण महान् खर्च पड़ रहा है, उसे देखते हुए आप सब महानुभावोंसे विवश होकर यह निवेदन करना पड़ रहा है कि आप अगले वर्षके लिए (जो आगामी अगस्तके अंकसे आरम्भ होगा) अभीसे वार्षिक शुल्क भेजना प्रारम्भ करें; साथ ही विशेष चेष्टा करके प्रत्येक सज्जन कमसे कम पाँच-पाँच नये ग्राहक-सदस्य 'श्रीकृष्ण-सन्देश'के लिए अवश्य बना देनेकी कृपा करें, जिससे यह पत्र अपने शुभ उद्देश्यमें यथासम्भव शीघ्र सफलता प्राप्त कर सके। इससे एक ओर आप 'श्रीकृष्ण-सन्देश'के विचारपूर्ण आध्यात्मिक तथा भगवल्लीला-सम्बन्धी लेखोंके अध्ययनसे आत्मोत्थान कर सकेंगे और दूसरी ओर भगवान् श्रीकृष्णकी पावन जन्मस्थलीके पुनरुद्धार-यज्ञमें भाग लेकर महान् पुण्यके भागी होंगे।

आशा है, आप अपना और अपने द्वारा बनाये गये नूतन ग्राहकोंका वार्षिक शुल्क आगामी मासके अन्ततक अवश्य भेजनेका कष्ट स्वीकार करेंगे। क्योंकि एक मास पश्चात् 'श्रीकृष्ण-सन्देश' अपने सातवें वर्षमें प्रवेश करने जा रहा है। वी. पी. भेजनेपर आपको तथा इससे संस्थानको भी व्यर्थ हानि उठानी पड़ती है। हम यह शुभ आशा और विश्वास रखते हैं कि आप हमारे इस अनुरोध पर अवश्य ध्यान देंगे।

निवेदक

व्यवस्थापक—'श्रीकृष्ण-सन्देश'
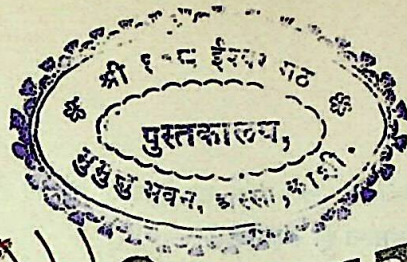
वर्ष : ६] मथुरा, जून १९७१ [अङ्क : ११

आत्माका अमरत्व

जगत्में दो बातें मुख्यरूपसे देखी जाती हैं—जन्म और मृत्यु। जीवात्माके द्वारा नूतन शरीरका ग्रहण जन्म है और उस शरीरका त्याग ही मृत्यु कहलाता है। आने और जानेका—आवागमनका यह चक्र यहाँ सदा चलता रहता है। इसीको लोग जन्म और मरण कहते हैं। जन्मका अर्थ किसी नये जीवका उत्पन्न होना नहीं है और मरणका भी अर्थ किसीका सर्वथा नष्ट हो जाना नहीं है। गमनागमन उसीका होता है, जो स्वरूपसे विद्यमान है। जो पहलेसे है, वही कहींसे आता और कहीं जाता है आने-जानेसे उसका भाव और अभाव नहीं माना जाता है। संसारका अर्थ है संसरण—आवागमनका अजस्र प्रवाह। जगत्का भी यही अर्थ है—जंगम्यते इति जगत्। जो बारम्बार आये जाये, वह जगत् है। यही इसका स्वरूप है। यहाँ आवागमन निरन्तर होता रहता है। इसीको लोग अपनी भ्रान्त धारणाके अनुसार जन्म-मरणकी संज्ञा देकर उसका अभिप्राय उत्पत्ति और विनाश मानते हैं और हर्ष-शोकके वशीभूत होते रहते हैं। तो क्या वस्तुतः किसीके जन्म-मरण नहीं होते हैं? नहीं। जो सत् है—नित्य सत्तावान् है उसका अभाव नहीं होता है और जो असत् है—अस्तित्वमें कभी आया ही नहीं है, उसका भाव नहीं होता—वह जन्म नहीं लेता है। क्या किसीने कभी बन्ध्याके पुत्रका अस्तित्व देखा है?

कदापि नहीं। सदसद्-विवेकके द्वारा यदि सत्-असत्की पहचान हो जाय तो जन्म-मरणकी विभीषिका सदाके लिए समाप्त हो सकती है ?

जगत्में दो तत्त्व हमारे प्रत्यक्ष अनुभवमें आते हैं--जड और चेतन। दृश्य और द्रष्टा। इनमें जो चेतन या द्रष्टा है, वह अजन्मा और अविनाशी है। उसके जन्म और मरण दोनों ही सम्भव नहीं हैं। जो जड या दृश्य है, वह परिणामी है उसमें रूपान्तरण होता रहता है। यह उसका स्वभाव है। अतः उसका भी जन्म-मरण नहीं है। आज जगत्में 'मैं', 'तुम' और इदम् (यह) रूपसे जो जीव-समूह दृष्टिगोचर होते हैं, वे पहले नहीं थे, अब नये पैदा हो गये हैं—ऐसी बात नहीं है तथा भविष्यमें ये फिर नहीं होंगे—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। देह और देहीका विभाग तो प्रायः सभी लोग कर लेते हैं। देहका अधिष्ठाता चेतन देही है। देही जैसे इस देहमें कौमार, यौवन और जरा अवस्थाओंको क्रमशः प्राप्त करता है; उसी प्रकार उसे देह-त्याग और देहान्तर-ग्रहण भी करने पड़ते हैं। इस उत्तरोत्तर प्राप्त होनेवाली अवस्थाको जो एक अनिवार्य वस्तु समझता है, उस धीर पुरुषको मोह नहीं होता। उसे इस परिवर्तनसे शोक-दुःख नहीं होते हैं।

जीव मेरा ही सनातन अंश है। वह जब जिस शरीरको छोड़ता और ग्रहण करता है, तब श्रोत्र, नेत्र, त्वक्, रसना, घ्राण तथा मन—इन छः सूक्ष्म इन्द्रियोंको अपने साथ खींच ले जाता है। ठीक वैसे ही, जैसे वायु किसी फूलके पाससे प्रवाहित होते समय उसकी गन्धको अपने साथ लिये जाती है। विषय-सेवन कालमें भी वह इन सबको साथ रखता है। प्रत्येक अन्तःकरणमें सर्वव्यापी चिदात्माका जो चित्-प्रतिबिम्ब है, उसीका नाम जीव है; अतः वह मुझ परमात्माका ही अंश है। वही देही है। देही नित्य और उसके उपयोगमें आनेवाले सभी शरीर अनित्य हैं। जो देहीको मरा या मारा गया मानते हैं वे लोग मूढ हैं, अज्ञानी हैं। जीवात्मा न मरता है, न मारा जाता है। शरीर ही मृत्युका ग्रास बनता है, उसमें रहनेवाला देही आत्मा अजन्मा है, नित्य है शाश्वत है। शरीर-परिवर्तनका महत्त्व वस्त्र-परिवर्तनसे अधिक नहीं है। अतः प्रत्येक समझदारको जन्म-मरणका भ्रम अपने मनसे निकाल देना चाहिए। सभी मनुष्य अपने आत्माको अजर-अमर समझें। मृत्यु तो हमें छू भी नहीं सकती। मृत्युकी विभीषिका अज्ञान-कल्पित है। आत्माका अमरत्व ही सत्य एवं सनातन है।

●

आत्मा जन्ममरणसे शून्य

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

प्रभु ! तव चरन किमि परिहरौं

नित्यलीलालीन श्री भाईजी

प्रभु ! तव चरन किमि परिहरौं।
ये चरन मोहिं परम प्यारे, छिन न इन ते टरौं॥
जिन पदनकी अमित महिमा, वेद-सुर-मुनि कहैं।
दास संतत करत अनुभव, रहत निसिदिन गहैं॥
परसि जिनकौं सिला तेहि छिन बनो सुन्दरि नारि।
घरनि मुनिवरकी अहिल्या, सकौं केहि बिधि टारि॥
इन पदन सम सरन असरन दूसरौ कोउ नाहि।
होइ जो कोउ तुम बतावहु, धाइ पकरौं ताहि॥
और विधि नहिं टरौं टार्‌यौ, होइ साध्य सु करौं।
जल जगत मकरंद अलि ज्यौं, मनहि चरननि्ह धरौं॥

कपिलोपदेशकी पृष्ठभूमि

श्रीस्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती

★

श्रीमद्भागवतके तीसरे स्कन्धमें ऐसी तीन स्त्रियोंकी कथा है; जिनमें-से एक स्त्री दैत्योंकी माता है, एक भगवान्‌की माता है, और एक जीवन्मुक्तकी माता है।

महर्षि कश्यप इतने बड़े महात्मा हैं कि दैत्य और देवता दोनों उनके पुत्र हैं। दोनोंमें उनकी समदृष्टि है। दिति भी उनकी पत्नी हैं और अदिति भी।

एक बार मैं एक व्यक्तिके घर गया। वे भयङ्कर रूपसे बीमार थे। पत्नी उनसे लड़ रही थीं—'मुझे इतने कपड़े, इतना रुपया दो और स्वतन्त्र फ्लैट दो। तुम्हारे पुत्र तो ऐसे हैं! तुम्हारी पुत्रवधुएँ ऐसी हैं···।' वे वेचारे मरनेको अटके थे और वह झगड़ रही थी। मनमें आया—'यह पत्नी है या पतिकी मृत्यु!'

पशु-पक्षी, देव-दैत्य आदि सबके पिता, सबकी माताओंके प्रति समदर्शी महर्षि कश्यप अग्नि-होत्रशालामें बैठे सन्ध्या कर रहे थे। उसी समय दिति आयी और निर्लज्ज होकर सहवासकी कामना करने लगी।

महर्षिने कहा—'यह हवन-शाला है, सन्ध्याका समय है, भगवान् शिव इस समय विचरण करते हैं, अतः थोड़ी देर मनको रोको।'

यह धर्म है। मनुष्य यदि अपना मन रोक नहीं सकता तो उससे धर्मपालन नहीं होगा। मनपर नियन्त्रण चाहिए। स्थान, काल, क्रिया, वस्तु, अधिकारीका नियम होता है, तव धर्मका पालन होता है।

दितिने जब बहुत हठ किया तो कश्यपजीने स्वीकार कर लिया—'मेरी नहीं मानती तो तेरी सही।'

तेरी तो हो गयी; किन्तु कश्यपजीने बतलाया—'तुमने वर्जित समयमें, वर्जित स्थानमें, वर्जित कालमें काम-सेवन किया, मेरी अवज्ञा की, भगवान् शिवका अनादर किया, इस प्रकार काल, स्थान, कर्म तथा बड़ेका अनादर किया है, अतएव तुम्हारे पुत्र दैत्य होंगे।'

जिसके जीवनमें संयम-नियम नहीं है, वह कैसे आशा रख सकता है कि उसकी सन्तान देवता बनेगी।

दितिके मनमें तुरन्त पश्चात्ताप जागा। उसने कश्यपजीके चरण पकड़े—'क्षमा करो!'

महर्षि कश्यपने कहा—'तुम्हारे मनमें अपने कर्मके प्रति पश्चात्ताप हुआ, भगवान् शिवके प्रति आदर है, धर्मबुद्धि जागी है, मेरे प्रति भी तुम्हारे मनमें सम्मान है, इसलिए तुम्हारा पौत्र भगवद्भक्त होगा।'

पतिकी मर्यादाका और आदेशका उल्लङ्घन, धर्मकी, कालकी, स्थानकी, क्रियाकी मर्यादाकी अवहेलना करनेके कारण दिति दैत्योंकी माँ हो गयी।

भागवतके तृतीय स्कन्धमें ही मनु-शतरूपाकी कथा है। मनु हैं विचार—मननात्मक ज्ञान और शतरूपा हैं श्रद्धा। जैसे पत्नी सौ-सौ वेश बना पतिको प्रसन्न करे, ऐसे श्रद्धा सौ-सौ रूप धारण करके विचारका अनुसरण करती है।

मनु-शतरूपामें दोनोंका मन एक है। मनु (विचार) ने कहा—'ईश्वरकी आराधना करना उचित है।'

श्रद्धा बोली—'यह पवित्र स्थान है, यह पवित्र आसन है, यह लीजिये माला और ये रहे पुष्प। ईश्वरकी आराधना कीजिये।'

जहाँ विचार और श्रद्धा एक साथ मिल जाते हैं, वहाँ सन्तान होती है देवहूति (जो देवता-परमात्माको आहूत कर दे—बुला दे) जिसमें देवाधिदेव परमप्रभुके बुलानेकी सामर्थ्य हो। अपने हृदयमें श्रद्धा-विचार दोनों हों तो ईश्वर-दर्शन करानेवाली वृत्ति उत्पन्न होती है।

जो ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, निन्दा आदिसे अपना हृदय मलिन करता है, वह अपने जीवनको ही नरक बनाता है। वह अपने पैरोंपर ही कुल्हाड़ी मारता है।

मनु-शतरूपा ऐसे आदर्श दम्पति थे कि उनका मन एक था। परस्पर प्रेम, विश्वास, सेवाकी मूर्ति थे। फलतः इन्होंने पृथ्वीपर वैकुण्ठको उतार लिया। देवहूति इनकी पुत्री हुई। यह शतरूपा हैं भक्तकी माँ। देवहूति भगवान्की माँ हुई।

ब्रह्माके पुत्र हैं प्रजापति कर्दम। इस कर्दम शब्दका अर्थ है शरीर। ब्रह्माजी हैं सूक्ष्म शरीरके देवता। उनसे जब स्थूल शरीरवाले कर्दमजी हुए तो ब्रह्माने कहा—'शरीरसे सृष्टि बढ़ाओ।'

उस समय परिवार-नियोजन अनावश्यक था। पहले लोग वृद्धोंकी मृत्यु और नये जीवनके आगमनमें विश्वास करते थे। आज विज्ञान लगा है—'रोग मिटाओ। वृद्धोंकी आयु बढ़ाओ। हम मरने न पायें। और नये बच्चे उत्पन्न न होने पायें। सन्तति-नियमन करो।' उन दिनों सृष्टिकी वृद्धि अभीष्ट थी।

ब्रह्माजीकी आज्ञा मानकर महर्षि कर्दम तपस्या करने लगे। 'पुत्र ही उत्पन्न करना है तो योग्य पुत्र पैदा हो, इस योग्य बनें।' वह पुत्र पुत्र है, जिसके उत्पन्न होनेसे वंश उज्ज्वल हो।

मुहूर्तमपि जीवेत नरः शुक्लेन कर्मणा।

मनुष्य भले ही दो घड़ी जीये; किन्तु प्रोज्ज्वल जीवन जीये। सन्तान तो चींटी, मक्खी, जुएँ भी उत्पन्न करते हैं। ऐसी सन्तान क्या उत्पन्न करना।

महर्षि कर्दमने ऐसी तपस्या-आराधना की कि स्वयं भगवान् नारायण प्रसन्न होकर वरदान देने पधारे और उन्होंने कहा—'परसों सम्राट् मनु अपनी महारानी और पुत्रीके साथ आपके आश्रममें आयेंगे। वे आपको अपनी पुत्री देंगे।'

प्राचीन कालमें बड़ी आयुकी कन्याओंके विवाहकी प्रथा थी। जब यवन, दस्यु आदिका भय हुआ, तब लोग बाल-विवाह करने लगे। अन्यथा कहा गया है—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

कन्या ब्रह्मचर्यका पालन करके युवा पति प्राप्त करती है।

बाल-विवाह नहीं होता था। लड़की और लड़के एक दूसरेको पसन्द करते थे। केवल माता-पिताकी आज्ञासे विवाह नहीं होता था। माता-पिता केवल यह निरीक्षण करते थे कि कन्या अयोग्य स्थानपर न चली जाय।

जब मनु-शतरूपा कर्दमाश्रममें आये तो मनुने पत्नीसे कहा—'पुत्रीसे पूछ लो।'

मुखेन चेतो लुलुभे देवहूत्याः।

कर्दमजीका मुख देखकर पहले ही देवहूतिका चित्त उनपर मुग्ध हो गया था। महारानी शतरूपाने पुत्रीका भाव ताड़ लिया। उन्होंने मनुको बतला दिया।

महर्षि कर्दमने उसी समय स्पष्ट कह दिया—'पीछे यह मत कहना कि हमें धोखा दिया गया। हम केवल वंश चलने तक गृहस्थ रहेंगे। उसके पश्चात् हम संन्यासी हो जायँगे।'

मनु-शतरूपा कन्याका विवाह करके, कन्याको वहीं छोड़कर राजधानी लौट गये। यही मनु-पुत्री देवहूति भगवान्की माँ बनीं। इनमें ऐसी क्या विशेषता थी? इसका वर्णन श्रीमद्भागवतमें है—

विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः॥
विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम्।
अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत्॥ (३।२३।२-३)

पतिपर विश्वास, स्वयं पवित्र रहना, पतिका सम्मान, अपनी इन्द्रियोंका दमन, सेवा, हार्दिक प्रीति, सम्मानपूर्वक मधुरवाणी, काम-दम्भ-द्वेष-लोभ-पाप और अभिमान छोड़कर नित्य प्रमादहीन सेवामें प्रस्तुत रहकर उन तेजस्वीको देवहूतिने सन्तुष्ट कर लिया।

यहीं दिति, शतरूपा और देवहूतिका अन्तर देख लें। दिति है भेद बुद्धि। अपने-परायेका भेद करनेवाली बुद्धिका नाम है दिति। यह दैत्यकी माँ है। इससे दैत्य—परपीड़ा प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

जब 'गीता तत्त्व-विवेचनी' लिखी गयी तो मैं बाँकुड़ा ही था। उस समय बाँकुड़ामें एक साधु आये। सेठ जयदयाल गोयनकाजीने अपने भाईको भेजा कि वे साधुको भोजनके लिए बुला लायें। वे गये तो साधुने कहा—'आज तो तुम मुझे खिला रहे हो, कल कौन खिलायेगा?'

वे लौट आये। उनकी बात सुनकर सेठजीने कहा—'जाकर साधुसे प्रार्थना करो कि—जिसने अबतक आपको भोजन दिया है, वही आज भी दे रहा है और वही कल भी देगा। हम खिलानेवाले नहीं हैं।'

यह बात सुनकर साधु प्रसन्न हुए। आकर उन्होंने भोजन किया।

अभिमानी व्यक्ति कहता है—'यह हमने किया। यह हमारा है।'

जिसमें अपने-परायेका विचार अधिक है, उसके घर लड़ाई-झगड़ा करनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा। उसका पुत्र दैत्य होगा।

मनु-शतरूपाकी स्थिति इससे भिन्न है। जहाँ विचारयुक्त श्रद्धा और श्रद्धायुक्त विचार होता है, वहाँ ज्ञानकी उत्पत्ति होती है।

केवल विचारसे ज्ञान नहीं होता न केवल श्रद्धासे ज्ञान होता है। जहाँ श्रद्धामें सहृदयता है और विचारमें प्रकाश है, इसीसे ही वहाँ जीवन्मुक्ति—देवहूति आती है।

कश्यप बहुत अन्तरंग हैं। वे तो ज्ञाता-द्रष्टा हैं। वे आत्मकक्षामें प्रविष्ट हैं। मनु-शतरूपा सूक्ष्म कक्षामें प्रविष्ट विचार—श्रद्धा हैं। कर्दम-देवहूति हमारे इस वर्तमान स्थूल जीवनमें आगये।

सुषुप्तिमें ज्ञान नहीं होता। स्वप्नमें भी ज्ञान नहीं होता। ज्ञान होता है जागृतावस्थामें। कश्यप-दिति सुपुप्तिरूप हैं और मनु-शतरूपा सूक्ष्म—स्वप्नरूप। कर्दम-देवहूति जागृतरूप हैं।

वस्तुसिद्धिर्विचारेण न क्वचित् कर्मकोटिभिः।

वस्तुकी सिद्धि करोड़ों कर्मानुष्ठानसे नहीं होती। वह तो विचारसे ही होती है।

अज्ञानकी निवृत्ति विक्षेपके अभावसे नहीं होती। अभाव किसीका भी निवर्तक या प्रवर्तक नहीं होता। अज्ञानको ज्ञान निवृत्त करता है।

पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गितकोविदा।
नित्यं पर्यचरत्प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम्॥ (३।२३।१)

जैसे भगवती उमा भगवान् शिवकी सेवा करती हैं, ऐसे ही माता-पिताके चले जानेपर पतिव्रता, पतिके संकेतको समझनेवाली निपुणा देवहूति अपने स्वामीकी प्रेमपूर्वक सेवामें लग गयीं।

एक नियम मनुस्मृतिमें है—

त्रीणि वर्षाण्यवेक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालमेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम्॥

कुमारी कन्या ऋतुमती होनेके तीन वर्ष बादतक माता-पिताकी प्रतीक्षा करे। यदि वे उसके विवाहमें आलस्य करते हों, इतने समयमें उसका विवाह न कर दें तो उसे स्वयं अपने अनुरूप पति चुनकर विवाह कर लेना चाहिए।

देवहूतिका माँ-बापने विवाह कर दिया और उसे छोड़कर चले गये। महर्षि कर्दम तो वृक्षके नीचे रहते थे। उनके पास कुटिया भी नहीं थी। देवहूति उनकी सेवा करने लगीं।

अब जो लोग पति-सेवाका विरोध करते हैं, उनके पास इसके लिए क्या युक्ति है कि मूर्तिमें ईश्वरकी पूजा करनेसे तो ईश्वर मिल सकता है; किन्तु पतिमें ईश्वरकी पूजा करनेसे ईश्वर नहीं मिल सकता।

तुम्हारी या कारीगरकी बनायी मूर्ति ईश्वर हो सकती है तो ईश्वरकी बनायी मूर्ति क्यों ईश्वर नहीं हो सकती? माता-पिता कन्या-दान किसी लड़केको नहीं करते, लड़केको नारायण समझकर कन्यादान करते हैं।

लोग कहते हैं—'पति ईश्वरकी भाँति आचरण नहीं करते।'

एक सज्जन एक महात्माके पास गये। महात्माने पूछा—'तुम्हारे घर कौन-कौन हैं?'

वे—'केवल माता है।'

महात्मा—'माताकी सेवा करते हो?'

वे—'उस माताका नाम मत लीजिए। वह तो वेश्या है।'

महात्मा—'वेश्या होगी तो वह पाप करती होगी तो नरक जायगी वह। तुम मातृ-भक्ति करोगे तो तुम्हें अपनी सेवाका फल मिलेगा या माँके वेश्या होनेका फल मिलेगा?'

जहाँ तुम ईश्वर-बुद्धिसे सेवा करते हो, वहाँ यह मत देखो कि वह क्या करता है। नर्मदेश्वरको आपने सृष्टि-संहार करते या शालग्रामको जगत्पालन करते देखा है? श्रद्धा ही तो करते हैं कि नर्मदेश्वर प्रलयंकर शिव हैं और शालग्राम जगत्पालक नारायण हैं। भावना ही मनुष्यका कल्याण करती है। जिसके हृदयमें भावनाकी पूँजी है, उसका कल्याण ही कल्याण है।

देवहूतिके हृदयमें भावनाकी अपार पूँजी थी। **'पतिमिङ्गितकोविदा'**—वह पतिके संकेतको समझती थी। सेवा वही कर सकता है जो संकेत समझता हो।

घरमें अतिथि आया। पतिने पत्नीकी ओर देखा तो पत्नी समझ गयी कि अतिथिको जलपान कराना है।

आज देवियाँ लड़ पड़ेंगी—'मुखसे बोलते क्यों नहीं? क्या उसमें जोर लगता है?'

'नित्यं पर्यचरत् प्रीत्या'—मूड नामका एक शैतान है। 'आज इस कामका मूड नहीं'—यह बात सेवामें भारी बाधक है।

'कल चाय बना दी थी। आज मूड नहीं है, पीना हो तो स्वयं बना लो।' यह मूर्खता है। **'मूर्च्छतीति मूर्खः'** जिसकी बुद्धि मूर्च्छित है वह मूर्ख है।

'प्रीत्या'—प्रेमसे, उल्लाससे सेवा होती है। सेवाकी पद्धति है कि जिसकी सेवा की जाय, उसकी शान्ति बनी रहे।

'भवानीव भवं प्रभुम्' पार्वतीजी सेवाके रहस्यको समझती हैं। एक बार शिवजीका सतीसे सम्बन्ध बिगड़ चुका है। शिवजीका अपने स्वसुर दक्षसे वैमनस्य हो गया। दक्ष प्रजापति कर्मकाण्डी हैं और शिवजी ठहरे अवधूत। दोनोंके आचारमें कोई मेल नहीं।

किसी कर्मकाण्डीके घर भोजन करने गये और ऐसे ही बैठ गये। वह बोला—'बिना कपड़े उतारे, बिना हाथ-पैर धोये भोजनको बैठ गये, बड़े भ्रष्ट हो!'

'अरे भाई, तुम्हारी रहनी दूसरी है। हम तो द्वार-द्वार भिक्षा करनेवाले अवधूत हैं। भिक्षा ली, खड़े-खड़े खायी और आगे चल पड़े। हम कहाँ तुम्हारा आचार चलाते हैं।'

दक्ष चाहते थे—'शिव हमें देखकर उठकर खड़े हों। प्रणाम करें।'

शंकरजी ध्यानस्थ थे। उन्होंने उठने, प्रणाम करनेकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। दक्ष रूठ गया।

भगवान् शंकरने उस समय सतीको बतलाया नहीं कि 'तुम्हारे पितासे झगड़ा हो गया है।' ऐसा करनेमें रस नहीं था। सती पिताका पक्ष लेतीं तो पतिसे और पतिका पक्ष लेतीं तो पितासे झगड़ा होता। इस प्रकारकी कई बातें कहने योग्य नहीं होतीं। अतः शंकरजीने सतीसे कुछ कहा नहीं; किन्तु जब सतीको पता लगा और उनके मनमें पिताका पक्षपात उदित हुआ तो अन्तमें उन्हें मरना पड़ा। जब दूसरे जन्ममें वे पार्वती हुईं तब जन्म ही ऐसा हिमालयके घर लिया कि शिवसे पृथक् न होना पड़े। इस प्रकार सदा साथ रहकर देवहूति सेवा करती थीं।

विश्रम्भेण—सप्तद्वीप सम्राट्की पुत्री; किन्तु मनमें पतिपर अपार विश्वास। सदा पवित्र रहतीं, आदर करतीं, कर्दमके अनुरूप बनकर रहतीं। जानती थीं कि इनके मनमें भोग-वासना नहीं है, अतः इन्द्रियोंको संयममें रखतीं। इस प्रकार उन तेजस्वीको देवहूतिने सन्तुष्ट कर लिया।

प्रेम अभिमानीसे नहीं, विनयीके प्रति होता है।

एक बार दुर्वासा मुनि द्वारिकामें श्रीकृष्णके यहाँ चातुर्मास्य करने लगे। श्रीकृष्ण प्रातः उठकर ध्यान करते थे कि आज दुर्वासाजीको कब क्या आवश्यकता होगी।

मैं एक बार कलकत्तेके एक प्रसिद्ध करोड़पतिके यहाँ ठहरा। मेरे लिए उन्होंने बिना पूछे बाथरूममें मिट्टी और दातौन रखवायी थी। वैसे उनके यहाँ तो सब साबुनसे हाथ धोते और ब्रश करते थे। लेकिन उन्हें ध्यान था कि मुझे मिट्टी और दातौनकी आवश्यकता होगी।

'विश्रम्भेण'—विश्वास करो और विश्वासपात्र बनो। प्रेमके लिए दोनोंमें विश्वास होना आवश्यक है।

एक बार एक पतिने मुझसे कहा—'पत्नी मुझसे झूठ बोलती है। रुपया होनेपर भी ना कर देती है। साड़ी होनेपर भी कह देती है कि नहीं है। वह सब तो मैं कर देता हूँ; किन्तु मनमें आता है कि जैसे यह रुपये-कपड़ेके लिए झूठ बोलती है, वैसे ही कहीं इसका दूसरे पुरुषसे सम्बन्ध हो और मुझसे झूठ बोलती हो तो?'

तुम चाहे छोटी बातमें झूठ बोलो या बड़ी बातमें; किन्तु सामनेवालेको तुमपर अविश्वास तो हो ही जायगा कि यह दूसरी बातोंमें भी झूठ बोलता होगा।

अविश्वास आयेगा तो जीवनमें विष आजायगा। अविश्वासमें सच्चा प्रेम नहीं हो सकता। विश्वास प्रेमका बाप है।

यदि तुम किसीके कहनेसे झूठ बोलो तो वही पीछे सोचेगा—'जैसे मेरे कहनेसे यह झूठ बोल गया, वैसे ही दूसरेके कहनेसे मुझसे भी बोल सकता है।'

'जिसके लिए चोरी करो, वही कहे चोर।'

अतः ऐसा कुछ मत करो कि अपने प्रियका अविश्वास-भाजन बनो। जब बुराई नहीं करनी है तो एकान्तमें देना-लेना या काना-फूसी करनेकी आवश्यकता क्या है।

'आत्मशौचेन'—अपनेको पवित्र रखो। यदि हम किसीको यह देखें कि वह सबका जूठा खा लेता है तो सोचेंगे—'इसकी पवित्रता सम्बन्धी कोई धारणा नहीं है।' तब शंका होगी कि यह चरित्रके सम्बन्धमें भी पवित्र है या नहीं।

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते।
एवं चलितवृत्तस्तु वृत्तशेषं न रक्षति॥

जैसे गन्दे कपड़ेवाला मनुष्य चाहे जहाँ बैठ जाता है, ऐसे ही च्युताचार व्यक्ति अपने शेष आचरणकी रक्षाकी चिन्ता नहीं करता।

जब मनुष्य अपनेको गन्दा रखने लगता है तो ठिकाना नहीं रह जाता—कि कहाँ-कहाँ अपनेको गन्दा कर लेगा। अतः गन्दगीसे बचो। पवित्र वस्त्र पहनो, पवित्र स्थानमें बैठो, पवित्र वाणी बोलो, पवित्र कर्म करो, पवित्र भोजन करो।

ऐसे पवित्र रहो कि दूसरे आदमी कहें—'यह व्यक्ति कोई गलत काम कर नहीं सकता।'।

बहुत पुराने समयकी बात है। एक बहुत बड़े व्यक्ति इङ्गलैण्ड गये। उनके साथ उनकी विधवा पुत्री थी। वे पुत्रीके साथ महारानीसे मिले। महारानीने परिचय पूछा और फिर यह जानकर कि उनकी लड़कीका प त मर गया है, सहज भावसे बोलीं—'इसका दूसरा विवाह कर दो।'

आजका समय नहीं था। वह लड़की मोटा कपड़ा पहिनती थी। सिर मुँड़ाये रहती थी। शरीरपर कोई आभूषण नहीं था। पृथ्वीपर सोती थी। व्रत-उपवास करती थी। महारानीकी बात उसके हृदयपर बाण जैसी लगी। उसने घर लौटकर अनशन प्रारम्भ कर दिया। उसका कहना था—'मुझे देखकर उसके मनमें पवित्र विचारका उदय नहीं हुआ। गन्दे विचारका उदय हुआ? मुझे देखकर उसे कहना चाहिए था 'तुम योगाभ्यास करो, समाधिमें मग्न हो जाओ!' और वह कहती है—'दूसरा व्याह करो!' अवश्य मुझमें कोई त्रुटि है। मेरे सामने किसीका साहस कैसे हो गया कि मुझे दूसरे विवाहकी सम्मति दे।

महारानीको पता लगा तो उन्होंने क्षमा माँगी—'मुझे हिन्दू धर्मका पता नहीं था। तुम अपनी पवित्रता सुरक्षित रखो।'

आवश्यक इतना ही नहीं है कि हम पवित्र रहें, आवश्यक यह भी है कि हमारा साथी भी हमें पवित्र समझे।

वाल्मीकीय रामायणमें कथा आयी है कि श्रीहनुमानजी जब लंका-दहनके पश्चात् श्रीजानकीजीसे हाथ जोड़कर बोले—'माता! दुष्ट रावण आपको हरण करके ले आया है और यहाँ बलपूर्वक रखा है। आप मेरी पीठपर बैठ जाओ। मैं थोड़ी देरमें आपको भगवान् श्रीरामके पास पहुँचा दूँगा। रावण या अन्य किसी राक्षसमें सामर्थ्य नहीं कि, मेरा प्रतिरोध कर सके।'

श्रीजानकीजी बोलीं—'हनुमान! तुम वानर हो, इसलिए मानवधर्म तुम नहीं समझते। मैंने जान-बूझकर कभी किसी परपुरुषका स्पर्श नहीं किया है। मैं अकेली थी, विवश थी, तब रावण मुझे उठा लाया। जान-बूझकर मैं तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकती, तुम पुत्र हो तब भी क्या। श्रीराम आयेंगे, लंका-विजय करेंगे, रावणको मारेंगे और तब मुझे ले जायेंगे।

तत्तस्य सदृशं भवेत्।

यह उनके उपयुक्त कार्य होगा।

ऐसी शुद्धता-सावधानी पवित्रतामें चाहिए।

१. अन्तर्मुखताका पक्षपात रखो। संसारके भोग-बड़प्पन खोखले हैं। २. समनस्क रहो। मन तुम्हारे नियन्त्रणमें रहे, तब धर्म होगा। ३. सदा पवित्र रहनेका प्रयत्न रखो। ऐसेको परमात्माकी प्राप्ति होती है। जिसमें अन्तर्मुखता नहीं होती।

तुम पवित्र रहो। दूसरेको पवित्र बनानेका प्रयत्न मत करो।

उपनिषद्में तीन बात आवश्यक बतायी गयी है—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदाशुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥ क॰उ॰

जो विज्ञानवान् है, समनस्क है, सदा पवित्र है, वह उस पदको पाता है, जिससे फिर जन्म नहीं लेता।

'गौरवेण'—अधिक धृष्टताका नाम प्रेम नहीं है। प्रेममें परस्पर गौरवका भाव होना चाहिए। अन्यथा जब धृष्टतामें अनादर लगेगा तो अन्ततः प्रेममें वैमनस्य आकर रहेगा।

पति एक ओर अपना प्रियतम—हृदय है तो दूसरी ओर अपना स्वामी भी है। अतएव जब गौरवका भाव बना रहता है तब प्रेम दिनोंदिन बढ़ता है। जब प्रेमका अर्थ अनादर हो जाता है, तब प्रेमके घटनेका मार्ग खुल जाता है। अतः प्रत्येक बातमें बराबरीका अधिकार नहीं चाहिए।

'गौरवेण'—सिर झुकानेका अभ्यास अभिमान मिटानेवाला है। यह जीवनमें विनय बढ़ानेवाला है। दूसरेको गौरव देना स्वयं गौरव पानेका मार्ग है।

जब समुद्रकी लहरोंमें स्नान करते हैं, उस समय जो कड़ा होकर खड़ा रहता है, उसे लहर पटक देती है। जो डुबकी लगाकर बैठ जाता या ऊपर उछल जाता है, उसपर लहरका प्रभाव नहीं पड़ता। अतः या तो संसारसे ऊपर उठ जाओ या संसारमें विनयसे काम लो। थोड़ा झुक जानेसे काम बनता हो तो अपना काम बिगाड़ देनेसे थोड़ा झुक जाना अच्छा है।

एक वृद्ध सन्त मरने लगे। लोगोंने आग्रह किया—'अपना अनुभव सुनाइये।

सन्तने मुख खोलकर पूछा—'मेरे मुखमें दाँत हैं?'

'नहीं।'

'जीभ है?'

'है।'

सन्त—'मेरा अनुभव है कि जो कड़ा होता है, वह पहले टूट जाता है। जो नरम होता है, वह बना रहता है।'

मनुष्यके जीवनमें विनयकी आवश्यकता है। अभिमान दुर्गुण है और विनय सद्गुण।

'दमेन च'—इन्द्रियोंको संयममें रखो। घरमें उत्तम वस्तु बनी तो पहले खा लिया, दूसरेको नहीं दिया, यह अनुचित है। उत्तम यह है कि खिलाके खाओ; किन्तु सर्वोत्तम यह है कि सामनेवालेको खिला दो, स्वयं भले न खाओ। अपनी जीभको पहले रखोगे तो एक दिन अवश्य कलह होगी।

यह बात सभी इन्द्रियोंके सम्बन्धमें है। कोई कुछ पढ़ या सुन रहा है और तुम्हारे मनमें कुछ कहनेकी इच्छा हुई तो थोड़ा रुको। बाधा मत दो। अपनी इन्द्रियोंको रोककर दूसरेके सुखका ध्यान रखना चाहिए।

'सुश्रूषया'—एक प्रेम सूखा होता है और एक गीला।

प्रेममें सूखापन क्या? केवल मुखसे प्रेमकी बात करना, पत्र लिखना—'मेरा तुमसे बहुत प्रेम है।' यह सूखा प्रेम है।

प्रेमकी पहचान है—जिसके हृदयमें प्रेमांकुर होगा, उससे प्रियतमकी सेवा किये बिना रहा नहीं जायगा। सेवाहीन प्रेम सूखा है। जो शुष्क है, वह प्रेम ही नहीं है।

देवहूति कर्दमजीका संकेत समझती थीं। उनमें विश्वास रखती थीं। उनका आदर करती थीं। अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखती थीं और सेवा करती थीं।

●

महाभारतमें मृत्युके तीन रूप

डॉ॰ श्रीविद्यानिवास मिश्र

★

महाभारत शान्तरसप्रधान काव्य है, मृत्युका भय, मृत्युकी निस्संग निर्ममता और मृत्युकी करुणरूपता इस काव्यके परिपोषक हैं। मृत्युके ये तीन रूप महाभारतमें मुख्यतः दीखते हैं—एक तो विभीषिकावाला रोमहर्षण रूप, दूसरा अत्यन्त निर्मम और दुर्निवार रूप, तीसरा मृत्युका जीवनापेक्षी रूप। पहले रूपमें मृत्यु नृशंस है, पर साथ ही मोचक भी है। अर्जुनको इसी रूपमें मृत्युका साक्षात्कार युद्धस्थलमें होता है, गाण्डीव हाथसे सरकने लगता है, अंग थहराने लगते हैं, मुँह सूखने लगता है, सर्वाङ्ग जलने लगता है। और यह साक्षात्कार अर्जुनको प्रणिपातपरायण बना देता है, मृत्युके भयके कारण ही अर्जुन गीताके उपदेशका अधिकारी होता है क्योंकि मृत्युके भयसे ही उनका एक ओर अभिमान टूटता है, दूसरी ओर भगवदभिमुखता जागती है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसीलिए सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय पहला है। शेष अध्याय तो मृत्युके द्वारसे जीवन-दर्शनकी झाँकी हैं, पर मृत्यु ही तो द्वार है।

दूसरा रूप दिखाया जाता है धृतराष्ट्रको। विदुर महानाशके बाद अपने बड़े भाईको समझाते हुए कालके निर्मम और दुर्निवार रूपका चित्र खींचते हैं।

> कालः कर्षति भूतानि सर्वाणि विविधान्युत।
> न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम॥
> यथा वायुस्तृणाग्राणि संवर्त्तयति सर्वशः।
> तथा कालवशं यान्ति भूतानि भरतर्षभ॥

काल समस्त प्राणियोंको खींचता है, उसका न कोई प्रिय है न द्वेष्य। जैसे हवा तृणोंके अग्रभागको चारों ओर झुकाती रहती है, वैसे ही समस्त प्राणी कालके आगे अवश होकर झुकते रहते हैं।

इस निर्मम रूपके आगे मनुष्यकी कितनी अवशता है, यह बतलानेके लिए विदुर मिट्टीके बर्तनकी उपमा लेते हैं—

> यथा च मृण्मयं भाण्डं चक्रारूढं विपद्यते।
> किञ्चित्प्रक्रियमाणं वा कृतमात्रमथापि वा॥
> छिन्नं वाप्यवरोप्यन्तमजीर्णमथवापि वा।
> आर्द्रं वाप्यथवा शुष्कं पच्यमानमथापि वा॥

उत्तार्यमाणमापाकाद् उद्धृतं चापि भारत।
अथवा परिभुज्यन्तमेवं देहाः शरीरिणाम्॥
गर्भस्थो वा प्रसूतो वाप्यथवा दिवसान्तरः।
अर्धमासगतो वापि मासमात्रगतोऽपि वा॥
संवत्सरगतो वापि द्विसंवत्सर एव वा।
यौवनस्थोऽथ मध्यस्थो वृद्धो वापि विपद्यते॥

जैसे मिट्टीका बर्तन चाकपर रखते-रखते कभी टूट जाता है, कभी हाथसे कुछ शक्ल लेते, कभी गढ़े जाते ही, कभी चाकसे काटकर निकालते भरमें, कभी नीचे रखे जानेपर, कभी गीले रहते ही, कभी सूख जानेपर, कभी पकाते समय, कभी आँवासे निकालते-निकालते, कभी निकालनेपर और कभी उस पात्रमें भोजन करते समय, उसी प्रकार मनुष्यका शरीर कभी गर्भमें ही मृत्युको प्राप्त होता है, कभी जन्म लेते-लेते, कभी एक दिनका होकर, कभी आधे मासका होकर, कभी एक महीनेका होकर, कभी एक वर्षका या दो वर्षका होकर, कभी जवान होकर, कभी अधेड़ होकर और कभी वृद्ध होकर। मृत्यु उम्र नहीं देखती। वह अवश्य आती है, एक तरहसे जन्मके साथ ही वह प्राणीके साथ चलती रहती और मौका देखकर दबोच लेती है।

विदुरका यह उपदेश मोहग्रस्त धृतराष्ट्रके लिए है, धृतराष्ट्र जो अधर्मरूपी वृक्षके मूल हैं। अधर्म ही अपमृत्युका कारण होता है और यह महानाश अधर्मके कारण हुआ, इसीलिए मृत्युका इतना निर्मम रूप ही अधर्मके मोहतमको चीर सकता है, यह सोचकर विदुर छोटे भाई होते हुए भी सान्त्वनाके पहले यह चित्र उपस्थित करते हैं।

तीसरा रूप है करुण और मानवीय, जिसका साक्षात्कार धर्मराज युधिष्ठिरको होता है—यह महानाश मेरे कारण हुआ। धिक्कार है इस क्षात्र धर्मको, धिक्कार है बलको, पौरुषको अमर्षको कि हम इस दुरन्त स्थितिको प्राप्त हुए हैं। सही बात तो यह है कि हमारे शत्रु जीते, क्योंकि उनका मनोरथ पूरा हुआ, हम अभागे बन्धुहीन होकर अपनेसे ही अपना नाश करके जीवित हैं। हम उन कुत्तोंसे किस मानेमें विलग हैं जो मांसके लिए जीभ लपलपाते रहते हैं। जिस दिनके लिए माता-पिता जप-तप, पूजा-पाठ करते हैं, देवताओंकी मनौती मानते देवताओंकी आशा करते हैं कि पुत्र होगा, सुख देगा, वह दिन उनसे छिन गया, वह आशा टूट गयी। और हमारे कारण हुआ, यही दुनिया कहेगी। कैसे मैं राज भोगूँ।

अमित्राः नः समृद्धार्था वृत्तार्थाः कुरवः किल।
आत्मानमात्मना हत्वा किं धर्मफलमाप्नुमः॥
धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलपौरुषम्।
धिगस्त्वमर्षं येनेदमापदं गमिता वयम्॥
आमिषे गृध्यमानानामशुभं वै शुनामिव।
आमिषं चैव नो हीष्टमामिषस्य विवर्जनम्॥

बहुकल्याणसंयुक्तानिच्छन्ति पितरः सुतान्।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च तितिक्षया॥
उपवासैस्तथेज्याभिर्व्रतकौतुकमङ्गलैः।
लभन्ते मातरो गर्भान् मासान् दश च बिभ्रति॥
यदि स्वस्ति प्रजायन्ते जाता जीवन्ति वा यदि।
सम्भाविता जातबलास्ते दद्युर्यदि नः सुखम्॥
इह चामुत्र चैवेति कृपणाः फलहेतवः।
तासामयं समुद्योगो निर्वृत्तः केवलोऽफलः॥

युधिष्ठिरकी यह आकुलता भयजन्य नहीं है, युद्धमें वे स्थिर रहे, युद्ध वे चाहते नहीं थे, पर उपस्थित हुआ तो स्थिर रहे; पर युद्धके परिणामसे और अपने पक्षने युद्धके परिणामसे जो वे व्याकुल हो उठते हैं, वह मृत्युके भयके कारण नहीं, मृत्युकी निर्ममताके बोधके कारण नहीं, बल्कि अपना दायित्व मृत्युके प्रति समझनेके कारण। वे आनृशंस्यको सबसे बड़ा धर्म मानते हैं, वे महाभारतके इस मूल उद्देश्यके साथ हैं कि—

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति महीपते।
स गच्छति परं स्थानं विष्णोः पदमनामयम्॥

मृत्युसे अभय देनेवाला विष्णुपदको प्राप्त होता है और चूँकि जीवनसे कुछ भी अधिक प्रिय नहीं है, इसलिए जीवनकी रक्षा ही सबसे बड़ा धर्म है। युधिष्ठिर मृत्युसे विचलित नहीं हुए, बल्कि मृत्युके प्रति अपने कर्तृत्वके कारण व्यथित होते हैं। उनके लिए मृत्यु एक मानवीय परिस्थिति है, दुर्निवार नहीं, भयावह नहीं, करुण है, क्योंकि उसके आते ही कितनी आशायें, कितनी आकांक्षायें टूटती हैं और मनुष्य अपनेमें भीतर टूटने लगता है। महाभारतकार इसी रूपको सामने रखकर महाभारतकी फलश्रुति इसमें दिखलाना चाहते हैं कि राज्य आदि छोटे मूल्य हैं, बड़ा मूल्य है जीवन और उसकी रक्षा। मृत्युका आघात जिस करुणाके स्रोतको उद्वेलित करता है, वह करुणा ही सबसे बड़ी मानवीय निधि है।

●

कर्ममें सामर्थ्य नहीं है ईश्वर तक पहुँचानेकी, पर जब ईश्वर देखता है कि यह जीव हमारे उन्मुख हुआ तो ईश्वर ही कृपा करके जीवके साधनको परिपूर्ण कर देता है। अतः आप अपने कर्मकी अल्पता मत देखें, भगवान्के महान् अनुग्रहको देखें।

●

जन्म-मृत्यु दो भूल-भुलौने

•★•

शिशुका जन्म बधाई बाजी लगे भाट वंदी यश गाने,
कुल-वधुओंके मधुर कण्ठसे फूट पड़े सोहरके गाने।
भाँति-भाँति उपहार प्राप्तकर चले जा रहे पौनी-पौने॥

बालक बढ़ विद्वान् विपुलमति देश-विजेता नेता होगा,
हँसी मृत्यु कह उठी 'नहीं, यह मेरा चतुर चहेता होगा।
रोक सकेंगे नहीं इसे इस जगके पोती-पोते छौने॥

निश्चित नहीं कि कब किसकी यह जीवन-यात्रा होगी पूरी,
देर सवेर सभीको मंजिल तै करनेकी है मजबूरी।
चले जा रहे सब अनजाने निश्चित महासेजपर सोने॥

घटसे गये प्राण, मरघट तक संगी साथी रोते आये,
कोई अञ्जलि-दान दे रहे, कोई श्रद्धा-सुमन चढ़ायें।
कितने आँसू-अर्घ्य चढ़ाते खोल नयन-पंकजके दोने॥

देखा जिसका ठाट, चढ़ी है आज चितापर उसकी ठठरी,
ज्योति ज्योतिसे मिली और यह काया हुई राखकी गठरी।
एक राहसे सभी जा रहे काले, गोरे, लूले, बौने॥

आत्मा अजर-अमर शाश्वत कब उसको जन्म-मरणमें छूते ?
उसके ऊपर चल न सकेंगे महाकालके भी बल-बूते।
शरन गहो गोविन्द-चरनकी मिट जायें सब भूल-भुलौने॥

—रा० ना० द०

जो भगवान्‌से जोड़ दे, कितना स्पृहणीय है, वह—

अकेलापन

श्रीमती सरोज गोयनका

शाम हो चली थी। घरमें सूनेपनका राज्य था। घरके सभी मेहमान आज जा चुके थे। बच्चे भी बाहर चले गये थे। शान्ति इतनी थी कि मन अकबका-सा गया था। चुपचाप पड़े-पड़े अनोखा-सा अकेलापन महसूस कर रही थी।

सोचने लगी कि अकेलापन मनुष्यको अखरता क्यों है? क्यों मनुष्य साथ चाहता है—साथ खोजता है—क्यों दुकेला बनना चाहता है?

वैसे तो मनुष्य संसारमें आता-जाता अकेला ही है। किसीका भी साथ नहीं मिलता है। पर जबतक संसारमें मनुष्य विचरता है, तबतक साथी बनाता है—जीवन-साथी, दोस्त, बच्चे, माँ, बहन, न जाने किन-किन नातोंसे साथ जोड़ता है।

परन्तु यह साथ कितने दिनका? सब हीं तो छूट जाता है—सब ही तो खो जाता है। वास्तवमें कोई उसका अपना नहीं होता है, मनुष्य भूलसे समझ बैठता है 'यह साथ ही मेरा सब कुछ है—ये साथी मेरे प्राण हैं'। कुछ दिनोंमें ही उसे आभास हो जाता है, वह चला गया—उसका साथ छूट गया मेरा वह नहीं था। अगर उसका था तो उससे बिछुड़ा क्यों? दूसरा खोजता है। उसे भी खोता है—इसी प्रकारसे चक्र चलता रहता है।

अकेला मनुष्य अपनेको और दूसरे भी उसको अभागा—बदनसीब समझते हैं। क्या वास्तवमें हम सभी अभागे या बदनसीब नहीं हैं? हम सभी तो अकेले हैं!

विचारधारा रुकती नहीं—चल रही थी। क्या हम सबका अकेलापन महसूस करना स्वाभाविक नहीं? क्या हम सब अकेले नहीं?

हम क्या हैं? क्यों अकेले हैं? क्या हम सब उस परम परमात्माके अंश नहीं हैं? क्या हम उससे बिछुड़े हुए नहीं हैं? न जाने कबसे उसके साथसे छूटे पड़े हैं। हम अपने अंशीको भुला बैठे हैं। सभी यहाँ-वहाँ खोजते-फिरते हैं। उस अंशीसे, जिससे मिलकर 'एक' हो जायँ, उसकी पहचान भूल बैठे हैं। अगर पहचानमें आ जाय तो साथ ही साथ हैं। वह 'एक' अकेला अपनेमें ही सब है। उस निराले 'एक' को पहचानना ही साथ है। वही तो सभी नातोंसे अलग नाता है—वही हमारा साथी है। बाकी तो अज्ञानके घर हैं—खोज हैं—भटकन हैं।

धीरे-धीरे 'अकेलापन' अच्छा लगने लगा। थोड़ी देरके लिए मैंने अपनेको 'उससे' जुड़ा जो दिया था। अपने सच्चे साथीकी खोज जो कर ली थी।

मैं पलंगसे उठी। सामने ही गोपालकी मूर्ति रखी थी। अपने आप ही शब्द निकल गये—'प्रभो! मुझे अकेला ही बनाये रक्खो जिस अकेलेपनमें तुम मिलते हो, वह अभाग्य या बदनसीबी नहीं, परम सौभाग्य है!

क्योंकि तुम मुझे अकेलेपनमें ही मिले हो और मिलते रहोगे। चुपचाप मस्तक झुक गया, जैसे मुझे सब कुछ मिल गया हो।

●

महाकवि ग्वालकी यमुना-लहरी

डॉ० भगवानसहाय पचौरी

★

'यमुना लहरी'की रचना कार्तिक पूर्णिमा सम्वत् १८७९ वि०में हुई थी। कविने ग्रन्थके अन्तमें इसका निर्माणकाल स्पष्ट रूपसे लिखा है :

सम्वत् निधि रिसि सिद्धि ससि, कातिक मास सुजान।
पूरनमासी परम प्रिय, राधा हरिकौ ध्यान॥
भयौ प्रगट वाही सुदिन, यमुना लहरी ग्रन्थ।
पढ़ै सुनै आनन्द मिले, जानि परै सब पन्थ॥

महाकवि ग्वालके ग्रन्थोंके पूर्वापर क्रममें 'यमुनालहरी' तीसरी रचना है। इससे पूर्व 'निम्बार्क स्वाम्यष्टक' तथा 'नेह निवाह' नामक ग्रन्थ और लिख चुके थे। हिन्दी साहित्य ग्रन्थोंकी लहरी परम्परामें यमुनापर लिखा गया प्रथम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कविने इसके प्रणयनकी प्रेरणा संस्कृतके अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथको 'गंगा लहरी'से ग्रहण की थी। अपने समयका यह महत्त्वपूर्ण माहात्म्य ग्रन्थ था। इस लहरीका हिन्दीमें इतना सम्मान हुआ और यह इतनी लोकप्रिय हुई कि कविके जीवनकालमें ही उसका प्रथम मुद्रण काशीसे सन् १८६५ ई० में हुआ। तत्पश्चात् नवलकिशोर प्रेम लखनऊसे उसका प्रकाशन सन् १८८८ ई० में हुआ। काशीकी मुद्रित यमुनालहरीकी प्रति लन्दन म्यूजियममें सुरक्षित है। इस ग्रन्थको अविकल रूपमें 'निम्बार्क माधुरी' नामक संग्रहमें भी देखा जा सकता है। शिवसिंह सरोजमें इसके कुछ छन्द मिलते हैं। कविवर पद्माकरने ग्वालकी यमुनालहरीसे प्रेरणा ग्रहण करके सम्वत् १८८४ वि० से १८९१ वि० के वीच 'गंगालहरी'की रचना की। 'गंगा लहरी'में ग्वालकी 'यमुना लहरी'के विपय, उपविषय, प्रसंग, उपप्रसंग और भाव आमने-सामने इस प्रकार भिड़े बैठे हैं कि विद्वानोंको आश्चर्य होता है। इन दोनों कवियोंकी कृतियोंके रचना-कालको देखकर ही ज्ञात होता है कि पद्माकरने ग्वालका प्रभाव पर्याप्त रूपमें ग्रहण किया है।

महाकवि ग्वालको 'यमुना लहरी'में कुल १०९ छन्द हैं। जिसमें ५ दोहे और १०४ कवित्त हैं। ग्रंथारम्भमें राधाकी इष्टरूपमें वन्दना लिखी गयी :

श्री वृषभानु कुमारिका, त्रिभुवन तारन नाम।
शीश नवावत ग्वाल कवि, सिद्धि कीजिये काम॥

इसके उपरान्त दो दोहोंमें कविने आत्म-परिचय लिखकर वर्ण्यविषय 'यमुना' पर मंगलाचरण प्रस्तुत किया है—

सोभाके सदन लीख होत हैं अदम सम,
पदम पदम पर परम लताके पद।
देखैं नख दामिनी घनै दुरी अकामिनी,
ह्वै यामिनी जुन्हैयाकी जरै जलूस ताके मन्द॥
ग्वाल कवि ललित कलान तैं कलित कल,
वलित सुगन्धन तैं वेस मुद ताके नद।
बन्दन अखंड भुजदण्ड युग जोरैं करौं,
वरद उमंड मारतंड तनयाके पद॥

'मारतण्ड तनया'के चरणोंकी वन्दनाके उपरान्त कविने क्रमशः इन विषयोंका वर्णन इस ग्रन्थमें किया है—यमुनाकी लहरोंका प्रभाव, स्नान-प्रभाव, नीर-प्रभाव, नाम-प्रभाव, स्मरण-प्रभाव, जप-प्रभाव, यमराजकी चिन्ता, चित्रगुप्तकी चिन्ता, कलियुगकी चिन्ता, पापियोंका उद्धार आदि। कविका मत है कि मानव-जन्मका मूल कर्म है, शरीरका मूल पालन-पोषण है, पालनका मूल भोजन, भोजनका मूल वर्षा, वर्षाका मूल है यज्ञ-जपादि, यज्ञका मूलाधार वेद-ज्ञान है, ज्ञानका मूल मुक्ति है और मुक्तिका मूल श्रीयमुनाके नामका स्मरण है:

मूल करनी कौ धरनी पै नर देह लैबौ,
देहन कौ मूल फेर पालन सुनी कौ है।
देह पालन कौ मूल भोजन सुपूरन है,
भोजन कौ मूल होनौ वरसा घनी कौ है॥
ग्वाल कवि मूल वरसा कौ है यजन जाप,
यजन सु मूल वेद भेद बहु नीकौ है।
वेदन कौ मूल ज्ञान ज्ञान मूल तीरवौ त्यौं,
तीरवे कौ मूल नाम भानुनन्दिनी कौ है॥

यमुनाकी तरंगोंका प्रभाव पापियोंको भी मुक्ति प्रदान करता है। तरंग-तरंगमें कोटिक पुण्योंका माहात्म्य है। यमके दम्भको चूर करनेके लिए ही मानों यमुनाकी तरंगोंने प्रण ठान रखा है। यमुना-जलकी महिमा अवर्णनीय—अकथनीय है। प्यासा कौवा भी इस जलको पीकर ही चतुर्भुज रूपमें परिवर्तित होकर सीधा स्वर्गधाम पहुँचता है। गणिका भी यमुनामें स्नानकर स्वर्गकी अधिकारिणी हो जाती है। चोर भी यमुना-यमुना पुकारनेसे दण्डसे बच निकलता है क्योंकि यमुना अपने भक्तकी रक्षामें आयुध लेकर दर्शन देती है, राजाका दरबार चकित रह जाता है। और तो और काष्ठकारने बड़े मनोयोगपूर्वक एक नाव बनायी। उसपर चित्रकारोंने चित्रकारी की। जैसे ही नाव यमुनामें उतारी कि जल-स्पर्शसे विचित्र चमत्कार हुआ, वह नाव ही गोविन्दरूपमें परिणत हो गयी। पतवार लकुट और चम्पू चार भुजायें बन

गयीं। चित्रकार चकित रह गये। यमुना-जलकी महिमा अपार है। इसके आचमनसे पथिक पृथ्वीपर यशस्वी होता है। यह फल अन्य देवताओंकी पूजासे प्राप्त नहीं होता। यमुनाके ऊपरसे आयी हुई हवाका प्रभाव भी अति चमत्कारी है। कोई राहगीर यमुनातट-बागकी बहार देखने लगा। उधर यमुनाकी ओरसे पवन चला। वह दौड़कर दरियोंमें छिप गया। यमुनाकी रेणुका चारों ओर छा गयी। होता क्या है कि बागका माली स्वयं कृष्ण हो गया, लताएँ पटरानी बन गयीं, मोर मुकुट बन गये और लवंग-लताएँ लकुटी बन गयीं। यमुनाके विविध नाम-स्मरणके फल भी विविध प्राप्त होते हैं।

रविजा कहैं ते रणजीते जामें जोर-जोर,
यमुना कहेंते यमुनाके होत हेर बिन।
भानु होति कीरति प्रभानु के परम पुंज,
भानु तनयाके कहते ही फेर फेर बिन॥
ग्वाल कवि मंजु मारतंडनन्दिनीके कहें,
महिमा महीमें होत दाननके ढेर बिन।
दरि जात दारिद दिनेस तनयाके कहें,
कहत कलिंदीके कन्हैया होत देर बिन॥
आदिमें रमाके रसरूप देनहारी तुही,
मध्य कुबिजाके करै कीरति प्रचारी तू।
अन्त विधि जाके जग जाहिर करैया तु ही,
जहर यमेशकी जलूसनको आरी तू।
ग्वाल कवि बरन-बरन कीन्हें वर्नन,
बरनन तेरेमें लख्यौ है चित्तधारी तू।
महिमा निहारी महामहिमा निहारी मातु,
रविजा कहेंते करे रसिकबिहारी तू॥

यमुना-स्नानसे बड़े-से-बड़े पापी भी तर जाते हैं। जैसे ही यमदूत उनको लेने आते हैं कि वे सीधे स्वर्गको चले जाते हैं। यमराजकी नाकमें दम हो गया है। चित्रगुप्तकी भी चालाकी काम नहीं आती। यमराजका हृदय धक-धक धड़कता है। हर आदमी स्वर्ग जा रहा है। नरक खाली पड़ा है, चित्रगुप्त यमराजसे प्रार्थना करता है कि महाराज यमुनाने तो बड़ी ही अनरीति कर रखी है शापग्रस्त, पापग्रस्त, शराबी, घोर पापी सभी स्वर्ग चले जा रहे हैं। आपके सभी खाते रद्दी हो गये हैं—

'लखि कैं चरित्र यमुनाके भय ताकै अति,
कहै चित्रगुप्त यम बात सुनि भीतिकी,
अवध सुरापी, शापी, पापी घोरतापी तिन्हें
भेजैं पुर भार्या यों दिखावै बाजी जानकी।

ग्वाल कवि यातें होस उड़िगे मुसाहिन के,
कहत सरोस भई समै विपरीत की,
रद्दी भई फरद जु वही भाल वही भई
गद्दी भई अवतर तिहारी राजनीत की।

चित्रगुप्त आगे काम करनेको तैयार नहीं। नरकके द्वारोंको अब तुड़वानेकी प्रार्थना करने लगे हैं क्योंकि यमुना सारे लेखे-जोखे को बिगाड़े डाल रही है—

'भाषै चित्रगुप्त सुनि लीजै अर्ज महाराज,
कीजिये हुकम अब मूदें नर्क द्वारे कौं,
अधम अभागी औ कृतघ्नी कूरकलिदेत,
करत कन्हैया कर्न कुंडल सँवारे कौं।
ग्वाल कवि अधिक अनीतें अनरीतें भई
दीजिए तुड़ाय वेगि कुलफ किवारे कौं,
हमु ना लिखेंगे वही, गमु ना जु खैंहें हम,
जमुना विगारै देत कागद हमारे कौं।

यमुनाके कार्य-कलापोंसे चित्रगुप्तकी नाकमें दम हो गया है। बुद्धि खो गयी है। कर्म कौन लिखे। दवातमें स्याही घुल गयी है। कलम कोई काम नहीं कर पा रही। खाते खतम हो गये हैं। फरद रद हो गयी हैं—

'ग्वाल यमुनाके लखि नाकें भये चित्रगुप्त,
वैन करुनाके बोलि मेरी मति ख्वै गई,
कौन करै करमें, कलम कौन काम करै,
रोसकी दवायत सौं रोसनाई ध्वै गई।
ग्वाल कवि काहें तें न कान दै यमेश सुनौ
नौकरी चुकाय कहाँ तेरी आँखि स्वै गई।
लेखा भये ड्यौढ़े, रोजनामा कौ परेखा कौन
खाता भयौ खतम फरद रद ह्वै गई।

अन्य देवी-देवता बिना याचनाके कभी कुछ भी नहीं देते एक यमुना ही ऐसी हैं जो बिना माँगे ही सब कुछ दे देती हैं;

'माँगे देत विदित विरंचि वर वानिक सो,
माँगे देत सचीपति पाये कछु भ्रमु ना,
माँगे देत सेस औ गनेस त्यों दिनेस देत
ताते रीति नारद मुनीस हू की कमु ना।

ग्वाल कवि त्यौं ही बजरंग वीर माँगे देत,
माँगे बिनु देयबे कौं काहू की जु गमु ना,
माँगिबे तैं पूजत मनोरथ सदा तैं सब,
मागे बिनु अधिक दिवैया तु ही यमुना।'

यमुनाका तेज अतुलनीय है, गुण अगणनीय है, प्रवाह अथाह है, प्रसारका पारावार नहीं है।

'औरनके तेज तुल जात हैं तुलान बिनु,
तेरौ तेजु यमुना तुलावनु तुलाइये,
औरनके गुनकी सुगिनती गिने तैं होत
तेरे गुनगन की न गिनती गिनाइये।
ग्वाल कवि अमित प्रवाहन की थाह होत,
रावरे प्रवाह की न थाह दरसाइये,
पारावार पार हूँ की पारावार पाइयत
तेरे वारपार कौ न पारावार पाइये।'

ग्वाल कविने इस प्रकार ८० छन्दोंमें सामान्य रूपसे यमुनाकी महिमा गायी है। इसमें भक्ति-रसका आभास है। यमुनाके गुणोंकी गणना तो है परन्तु भक्तिकी वह तल्लीनता नहीं जो सूर आदिक भक्तोंमें है। परन्तु इसे हम युगका दायित्व समझते हैं। यह रीतिका प्रभाव है कि यमुना-महिमा-वर्णनमें ग्वाल कविने नवरस और षट्-ऋतु वर्णनकी कल्पना की है। यमुनाके सन्दर्भमें शृंगार-रसका एक उदाहरण श्रवणीय है—

'देव मारतंडकी तनूजाकी तरंगैं ताकि
ह्वै गयौ गुविन्द अरविन्द नद नीन में,
पाई प्राण प्यारी अनियारी उजियारी द्युति
प्रीति अधिकारी मिलि गावैं तान बीन में।
ग्वाल कवि प्रेमी पुरहूत पानि पानदान
पीवत पियूष जड़े प्याले जे चुनीन में,
झूमि झूमि झूकें झँझरीन में विझूकें झपि
झिलमिल झाईं की झमक झिझरीन में।'

करुणरसका एक उदाहरण इस प्रकार है—

'काहू एक देस तैं पुरुष तिय बेटा युत
आयो न्हाइबे कौ जमुना न लौं गयौ,
पूत पहिलैं ई पिलि पैठि गौ प्रवाह बीच
ह्वै कैं गोविन्द धाम परम भलौ गयौ।

ग्वाल कवि नेक में न देखि पर्‌यौ ताकौ तव
बोल कढ़े ऐसे मन मानिक छल्यौ गयौ,
तात मात दोऊ खंड तीर पै पुकारै हाय-
हाय सुत मेरौ आहिं कितमें चलौ गयौ।

वीर-रसका कवित्त इस प्रकार लिखा गया है—

'दीह दुराचारी व्यभिचारी एक अनाचारी
हाय यमुनामें कह्यौ कैसे मैं उधरिहौं,
फेरि प्रान त्यागे भुज चारि भईं, ताही ठौर
आयौ यमदूत कहै तोहि मैं पकरिहौं।
ग्वाल कवि एती सुनि भाग्यवली भाख्यौ वह
निज भुजदंड कौ घमंड अनुसरिहौं,
तोरि यमदंड कौं मरोरि बाहुदंड कौं सु
फोरि-फारि मंडल अखंड खंड करिहौं।'

शान्त-रसका वर्णन बड़ा मनोहर हुआ है—

'अपनौं न कोऊ बंधु बहन भतीजौ सुत
भानजे न भानिन भुरयापन कौ सपनौ,
तपनौं तपन तेज तन कौ अनित्य जानि,
सेज करि ज्ञानकी अदेहमें न चपनौ।
कंपनौ कुसंग तें कुढंगन तें ग्वाल कवि
झूठौ व्यवहार माया जाल ते न झपनौ,
थपनौ न मोकौ जगजालके जंजालनमें
याने अव नाम यमुना कौ योग जपनौ।'

षट्‌-ऋतु-वर्णनमें नौ कवित्त हैं। वसन्त-ऋतु-वर्णनका एक छन्द इस प्रकार है—

'भानु तनयाकी अति तरल तरंगें ताकि
होत तेज अतुल प्रताप पल चार में।
बैठे सुरसंगमें सुअंगमें वसन्ती वास,
वैसौई बिछौना जर्द जरद बजार में।
ग्वाल कवि कोकिल कलित कलरव राजैं
त्रिविध समीर सुख सरस अपार में,
किंसुक कुसुम औ अनार कचनार चारु,
फैल फैल फूलत वसन्त की बहार में।'

कलङ्क मार्जन और जाम्बवती सहित मणिकी प्राप्ति

स्यमन्तकमणि

आचार्य श्रीसीताराम चतुर्वेदी

द्वारिकामें सत्राजित नामक एक यादव रहता था। वह सूर्य भगवान्‌की बड़ी पूजा किया करता था। सूर्य भगवान् उससे इतने प्रसन्न हो गये कि उन्होंने सत्राजितको स्यमन्तक नामकी एक ऐसी मणि दे दी जो सूर्यके समान ही इतनी चमचम चमकती थी कि जो उसकी ओर देखे उसकी आँखें चौंधिया जायें।

उस मणिको गलेमें पहनकर जब सत्राजित द्वारिकामें आया तब सबने समझा कि भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिए साक्षात् सूर्य-नारायण चले आ रहे हैं। श्रीकृष्णजी उस समय चौसर खेल रहे थे। उनके साथ खेलनेवाले यादवोंने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा कि देखिए, आपके दर्शनके लिए सूर्य भगवान् चले आ रहे हैं। पर सत्राजितको वे झट पहचान गये। उन्होंने सब लोगोंको समझाया कि जिसे आप लोग सूर्य समझते हैं। वह तो सत्राजित यादव है। स्यमन्तक मणि धारण कर लेनेके कारण यह इतना चमक रहा है।

सत्रात्रितने अपने घर पहुँचकर वह मणि देव-मन्दिरमें रख दी और नित्य उस मणिकी पूजा करने लगा। उस मणिमें बहुत बड़ा चमत्कार यह था कि वह आठ भार (५३० मन) सोना नित्य उगलती थी और जहाँ-जहाँ वह पूजी जाती थी वहाँ अकाल, महामारी, रोग, शोक कुछ नहीं होता था।

इसी बीच एक दिन श्रीकृष्णसे सत्राजितकी भेंट हो गयी। बात-बातमें श्रीकृष्णजीने सत्राजितसे कह दिया कि यह मणि आप उग्रसेनको दे दीजिये। पर यह काहेको मानने लगा था। वह नकार गया और वहाँसे चला भी गया। एक दिन सत्राजितके भाई प्रसेनजितको क्या सूझी कि वह मणि पहनकर, घोड़ेपर चढ़कर आखेटके लिए निकल गया। जब साँझतक भी वह घर लौटकर नहीं आया तब तो सत्राजितका माथा ठनका। उसके मनमें चोर पैठ गया कि हो न हो कि श्रीकृष्णजीने ही प्रसेनजितको मारकर मणि छीन ली है। बात फैलते क्या देर लगती है। श्रीकृष्णजीके कानोंतक भी यह बात जा पहुँची और उन्होंने ठान लिया कि जैसे भी हो यह कलंक दूर करना ही चाहिए।

अगले दिन तड़के ही वे अपने साथ बहुतसे यादवोंको लेकर प्रसेनजितकी खोजमें निकल पड़े। जिस जंगलकी ओर प्रसेनजित गया था वहाँ जाकर देखते क्या हैं कि घोड़ा मरा पड़ा है। सिंहके पंजोंमें छाप फैली हुई है, पर मणि कहीं नहीं दिखाई दे रही है। अब तो सबके मनमें यह बात जम गयी कि सिंहने ही उसे मार डाला है और वही मणि लेकर गुफामें घुस गया है पर श्रीकृष्णजी तो अपनी आनके धनी थे। वे इतनेसे हारनेवाले नहीं थे।

अपने साथियोंको गुफाके द्वारपर छोड़कर श्रीकृष्णजी भीतर चले गये। वहाँ देखा कि सिंह मरा पड़ा है और कुछ ही आगे मणिके साथ बच्चे खेल रहे हैं। ज्यों वे आगे बढ़े कि एक बड़ा-सा भालू आकर चिपट ही तो गया उनसे। अब तो दोनोंमें गुत्थम-गुत्था होने लगी। अट्ठाईस दिनोंतक उनमें युद्ध होता रहा। अन्तमें वह भालू थक गया और छोड़कर बोला—

'हे भगवन्! आप साक्षात् भगवान् राम ही अपने श्रीकृष्णावतारमें प्रकट हो गये हैं। आपका भक्त जाम्ववान् (जामवन्त) हूँ। मैंने बड़ी ढिठायी की कि इतने दिनों तक अनजानमें स्यमन्तक मणिके फेरमें पड़कर आपसे लड़ता रहा और आपको पहचान न पाया। मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'

श्रीकृष्णजीने कहा कि मुझपर स्यमन्तक मणि चुरानेका कलंक लगा है, उसीकी खोजमें आया था। यहाँ आकर देखा कि यहाँ उस मणिसे बच्चे खेल रहे हैं। जाम्ववान्‌ने हाथ जोड़कर अपनी बेटी जाम्ववती और स्यमन्तक मणि श्रीकृष्णजीको देते हुए कहा—'महाराज! एक सिंह यह मणि लेकर यहाँ इस गुफामें आ घुसा जहाँ आपके रामावतारके समयसे ही मैं आपकी बाट देखता हुआ जी रहा हूँ। मैंने सिंहको मारकर मणि छीन ली। मैं बड़भागी हूँ कि आपके दर्शन हो गये। यह लीजिये स्यमन्तक मणि और यह मेरी बेटी जाम्ववती, इसे भी स्वीकार करने की कृपा कीजिये।

जब बारह दिनतक भी श्रीकृष्णजी गुफासे नहीं निकले तो उनके साथी रोते-कलपते लौट आये। चारों ओर रोना-पीटना मच गया। सब लोग सत्राजितको कोसने और बुरा-भला कहने लगे। किसीकी समझमें नहीं आ रहा था कि श्रीकृष्णजी क्या हुए कहाँ गये? उन्हें कहाँ ढूँढ़ा जाय। इसी बीच अट्ठाइसवें दिन स्यमन्तक मणि और जाम्बवतीको लिये-दिये श्रीकृष्णजी आ ही तो पहुँचे। चारों ओर बधाइयाँ बजने लगीं। सारी द्वारिका हर्षसे नाच उठी। सब लोग श्रीकृष्णजीको देखनेके लिए दौड़ पड़े। श्रीकृष्णजी सीधे सत्राजितके पास पहुँचे और कहा—'रोओ मत! तुम्हारे भाई प्रसेनजित्‌को सिंहने मार डाला था और सिंहको मार-कर जाम्बवान्‌जी वह मणि ले गये थे। लो, यह लो अपनी मणि।'

सत्राजित लाजसे गड़ गया कि मैंने भगवान्‌को कैसा झूठा कलंक लगाया। अपनी झेंप मिटानेके लिए उसने श्रीकृष्णजीके साथ अपनी पुत्री सत्यभामाका विवाह कर दिया और साथ ही स्यमन्तक मणि भी देनी चाही पर श्रीकृष्णजीने कहा कि स्यमन्तक मणि तो आप ही रखिये। हमें केवल यह सोना देते रहिये जो वह मणि नित्य दिया करती है। सत्यभामा और श्रीकृष्णजीका विवाह हो गया। सत्राजितको स्यमन्तक मणि मिल गयो और सब लोग जान गये कि श्रीकृष्णजीको झूठा कलंक लगाया गया था।

जो भादोंकी चौथका चाँद देख ले उसे इस श्लोकका पाठ करनेसे वह कलंक दूर हो जाता है।

सिंहः प्रसेनमवधीत् सिंहो जाम्बवता हतः।
सुकुमारक मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तकः॥

(सिंहने प्रसेनजितको मार डाला और सिंहको जाम्बवन्तने समाप्त किया है। हे कोमल चित्तवाले (सत्राजित्)! तुम रोओ मत। लो, यह रही तुम्हारी स्यमन्तक मणि।)

एक बूँद अमृत

श्री गोपाल मिश्र

नियतिके एक ही झटकेने प्रभादेवीको सुखोंके उत्तुंग शिखरसे ढकेल कर नरककी अतुल गहराईमें पहुँचा दिया। जीवनकी वनस्थली एकाएक मरुभूमि बनकर रह गयी। आशाका प्रकाशपुञ्ज अचानक भभककर बुझ गया—रह गयी धुएँकी एक क्षीण रेखा जो वायुके झोकोंसे प्रकम्पित होकर इधर-उधर जाने कहाँ बिखर गयी। अब तो बस, अन्धकार ही अन्धकार बच रहा चारों ओर··

प्रभा देवीने माँग पोंछ ली, बिन्दी मिटा डाली, आभूषण उतार दिये, वैधव्य-परिधानकी श्वेत साड़ी लपेट ली··जैसे कि वह ठंढे पड़ गये शरीरके चारों ओर लिपटा कफन हो।··

नैराश्य-अन्धकार एवं पति-वियोग-जन्य दुःखसे भरी-भरी जिस समय वह वस्त्र बदल रही थी, लाख प्रयत्नोंके उपरान्त भी अपनेको न रोक सकी और धाड़ मार-मारकर रो पड़ी। उसे ध्यान आ गया था गीताका वह श्लोक जिसमें श्रीकृष्णने अर्जुनको वस्त्रोंकी अदला-बदलीकी बात बतायी थी—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽप-राणि··। वह सोच रही थी—मेरे प्रियतमने तो अपने शरीररूपी वस्त्र उतार फेंके, अब नये पहन लिये होंगे··पर मैं?

उसे इस बातपर आश्चर्य हो रहा था कि वस्त्र जीर्ण होनेसे पूर्व ही परिवर्तित हो गया। अधेड़ आयु और पूर्ण आयुमें बड़ा अन्तर होता है। फिर भी जैसे परिस्थितियोंने मुझे आज बिना जीर्ण हुए ही सुन्दर, कोमल और मूल्यवान वस्त्रोंको बदल डालनेपर विवश कर दिया है; इसी प्रकार मेरे पति भी पूर्णायु होनेके पूर्व ही शरीररूपी वस्त्र बदल डालनेके लिए विवश हो गये··काश! यह अनपेक्षित वायुयान-दुर्घटना न हो जाती तो आज यह दिन क्यों देखना पड़ता?

प्रभादेवीको रोना इस बातपर आया था कि यदि वह जानती कि

उनके पतिपरमेश्वरका बिछोह इतने शीघ्र होनेवाला है तो वे अपनी शक्तिभर उनकी सेवामें कोई कसर न उठा रखतीं।

पर···अब क्या हो सकता है? पति तो चले गये। मैं अकेली, असहाय इस संसारमें रह गयी···शायद अपने दुष्कर्मोंका फल भोगनेके लिए।···और वह रो पड़ी।

'माँ!···मत रोओ माँ···' धर्मेन्द्र अपनी भर्राई वाणीमें माँको समझानेका उपक्रम करता-सा बोला।

प्रभादेवीने आँसू पोंछ डाले। पुत्रकी व्यथा देखकर उनके हृदयके टुकड़े-टुकड़े होने लगे। वह अपना दुःख भूल गयीं।

× × ×

उस दिन रात्रिमें पल भरके लिए भी उनकी आँख न लग सकी। सारी रात वह पतिके वियोगमें आँसू ढालती रहीं। भाँति-भाँतिके विचार मस्तिष्कमें चक्कर काटते रहे। कभी सोचतीं कि इस नश्वर संसारमें सब कुछ असार है। कभी सोचतीं कि वह मायाके वशीभूत हुई क्यों हाहाकार कर रही है, क्यों नहीं ईश्वरकी इच्छाके आगे सिर नवाकर संतोष कर लेती। कभी सोचती कि उनका प्रलाप स्वार्थवश ही तो है, कितनी स्वार्थी हैं वे! रह-रहकर एक बात उसके हृदयको कचोट उठती कि उन्होंने अपने पतिकी भरसक सेवा क्यों न की? पति परमेश्वर होता है, यह आजसे पहले क्यों नहीं जाना उन्होंने?

·· नव-विहान उषाके सिन्दूरी आँचलमें किलक पड़ा। संसार जग पड़ा। मदिर वायुके झोकोंने संसारमें नया प्राण फूँक दिया।

प्रभादेवीने सूर्यदर्शन किया तो जैसे ज्ञानका पट अपने आप खुल गया। विचार उसके मस्तिष्कमें विद्युत्की भाँति कौंध गया। उन्हें लगा जैसे दिशाएँ तुमुलनाद कर उठी हों, पृथ्वी नाच उठी हो और चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश फैल गया हो···अलौकिक प्रकाश··।

उस समय एक ही ध्वनि उनके कर्णपटलोंसे टकरा रही थी—पति नहीं है, तो परमेश्वर तो है···पति नहीं है, तो परमेश्वर तो है···पति नहीं है, तो परमेश्वर···

प्रभादेवीके कानोंमें गूँज इतनी तेज हो गयी थी कि वह सह नहीं पा रही थीं। कानोंपर हथेलियाँ लगा लीं और कहा, 'हाँ है···परमेश्वर है···अब मेरा जीवन उसीकी सेवामें बीतेगा।

× × × ×

समयका अन्तराल लम्बी छलाँग लगा गया।

इस बीच प्रभादेवीके सच्चे-झूठे सम्बन्धियोंने अतीव व्याकुलताका अनुभव किया। द्वेषकी अग्नि धधक उठी। किसी विधवाके पास इतनी धन-सम्पत्तिका क्या काम ? हम इतनी दौड़-धूप करके भी कोई विशेष लाभ नहीं उठा पाते, और यह बैठे-बैठे इतनी बड़ी सम्पत्तिकी स्वामिनी बनी हुई है ?

द्वेषाग्नि लोभ-घृतसे अपनी ज्वाल-शिखाएँ प्रभादेवीके चारों ओर लपलपाने लगी। उसकी आँचसे वह व्याकुल होने लगीं। उनके सम्बन्धी याचना, ठगी, झूठ, जाली दस्तावेज, कोर्टकी धमकी इत्यादिपर उतारू हो आये।

प्रभादेवीके मानसपर अशान्तिका भयङ्कर नृत्य प्रारम्भ हो गया। अन्तमें उनकी ऐसी स्थिति आ गयी कि परिस्थितियोंके समक्ष एक बार पुनः उन्हें घुटने टेक लेने पड़े।

उस दिन वे अपने भवनके पूजागृहमें श्रीकृष्ण-विग्रहके समक्ष आर्त-भावसे घुटने टेके बैठी थीं। कृष्णकी सलोनी मूर्ति अधरोंमें मुस्कान लिये वंशीको चूम रही थी। प्रभादेवीकी आँखोंसे आँसुओंकी अविरल धारा बह रही थी। काँपते हुए होठोंसे वे पूछ रही थीं—

'बोलो, बोलो कृष्ण कन्हैया ! नटवर ! खिलाड़ी श्याम ! कैसा खेल खेल रहे हो तुम ?··मेरी सारी शान्ति नष्ट हो गयी। मेरा पति छीन लिया। अब धन छीन रहे हो ?··और यदि मैं धनकी रक्षा करने लगूँगी तो मेरे सम्बन्धी मेरे पुत्रकी बलि चढ़ा देंगे। बोलो न ? मैं क्या करूँ ?··तुमने महाभारत युद्धमें गीताका उपदेश दिया था··तुम अबलाको भी कोई उपदेश दो योगीश्वर !··'

भावातिरेक से प्रभादेवीका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। आगे वे एक भी शब्द न बोल सकीं। अपना मस्तक श्रीकृष्णके चरणोंपर रख दिया। आँखोंसे गङ्गा-यमुनाकी धार बरस-बरसकर चरणोंको पखारने लगी।

कितनी ही देर इसी तरहसे बीत गयी।

रुदन थमा तो उन्होंने आँख उठाकर श्रीकृष्णके मुखकी ओर निहारा। वहाँ अब भी पहलेकी ही मुस्कान खेल रही थी।

'अजीब हो तुम कृष्ण ! मेरे सिरपर तूफान गुजर रहा है और तुम हो कि मुस्कराये ही जा रहे हो ? यहाँ अशान्तिमें मेरा रोम-रोम झुलस रहा है तुम हो कि तुम्हारे चेहरेपर शान्तिकी मुस्कान थिरक रही है ?··कहाँसे पाये हो इतनी शान्ति ?··थोड़ी-सी मुझे भी क्यों नहीं बाँट देते नटवर ?··'

अचानक उन्हें ऐसा लगा जैसे उस मुस्कानमें भी कोई सन्देश हो।... क्या सन्देश हो सकता है वह? प्रभादेवी एकटक देखती हुई सोचरही थीं।

उन्हें लगा जैसे कि वह मुस्कान बोल रही हो—'मा शुचः'...'मद्भक्तः न प्रणश्यति'...'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'...'योगक्षेमं वहाम्यहम्'...'

प्रभादेवीके हृदयपरसे बोझ उतर गया। चित्त हलका हो गया... झंझावात बीत जानेपर शान्त वृक्ष जैसा, बाढ़ निकल जानेके बाद आर्द्र तट जैसा। अनायास ही बोल उठीं वह, 'हे विराट्! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।'

उसी दिन उन्होंने अपने सभी सम्बन्धियोंको बुलाकर स्वेच्छासे खुशी-खुशी अपनी सारी सम्पत्ति उनमें बाँट दी। सम्बन्धी तो सम्पत्तिपर ऐसे टूट पड़े जैसे कि शवपर गृद्ध...

और प्रभादेवी और धर्मेन्द्रको सम्बन्धियोंने अभयदान दे दिया। ले देकर उनके लिए अब दो ही सम्पत्तियाँ बची थीं—एक तो उनका एकमात्र पुत्र धर्मेन्द्र और उनका एकमात्र आवासीय भवन जिसमें उनके कृष्ण कन्हैयाका विग्रह मन्द-मन्द मुस्करा रहा था।

× × × ×

दिन अच्छे बीत रहे थे। मकानके किरायेकी आमदनी पर्याप्त थी। किसी प्रकारकी कोई चिन्ता न थी। प्रभादेवीको शान्तिकी किरणोंकी झलक मिल चुकी थी। वे सन्तुष्ट थीं।

लेकिन धर्मेन्द्रको संसारकी हवा लग चुकी थी। वह माँके दिनभर पूजाघरमें बैठे रहनेका विरोध करने लगा। पुजारी शिवचरण तो उसे फूटी आँखों नहीं सुहाता था। उसका कहना था कि इसी पूजा-घण्टीके टण्ट-घण्टने देशको बरबाद कर रखा है। मनुष्यको परिश्रम करना चाहिए और धनी बनना चाहिए—चाहे जैसे भी हो। समृद्धिमें ही देशकी खुशहाली है।

माँ कितना भी समझाती पर धर्मेन्द्रके बढ़े चरण बढ़ते ही गये, रुके नहीं। भाग्यने भी उसका साथ दिया। समृद्धि बढ़ने लगी। माँ पूछती 'बेटा! कहीं इस धनोपार्जनमें तुम अन्यायका सहारा तो नहीं ले रहे?'

धर्मेन्द्र इस प्रश्नको बार-बार सुनी-अनसुनी कर देता, कभी टाल जाता तो कभी भोली माँको दूसरी बातोंमें फुसला लेता।

एक दिन कई बड़े-बड़े व्यापारियोंकी एक आवश्यक बैठक धर्मेन्द्रके घरपर चल रही थी। उसमें कुछ लोगोंको बैठक समाप्त करके वायुयान पकड़ना था। जिस कारोबारकी चर्चा वहाँ चल रही थी उसकी सफलतापर धर्मेन्द्रके पास अतुल सम्पत्ति आ जाने की सम्भावना थी।

ठीक उसी समय पुजारी शिवचरणने आरती-पूजा प्रारम्भ कर दी।

शङ्खध्वनि, घड़ियाल, घण्टे और आरती-गायनका जो शोर उभरा कि बैठकका चल सकना असंभव हो गया।

पूजा समाप्त हुई तो व्यापारियोंके चले जानेका समय आ गया। बैठक अधूरी ही रह गयी। धर्मेन्द्र अपनी योजनामें सफल न हो सका।

धर्मेन्द्र बुरी तरह उखड़ गया। उसने तुरन्त वहीं खड़े-ही-खड़े पुजारी शिवचरणको अपनी सेवासे निकाल बाहर कर दिया।

प्रभादेवीने बहुत समझाया कि—'बेटा! यह तुम पाप कर रहे हो… ईश्वरकी आँखोंमें यह अपराध है…आज इतना जो कुछ है सब ईश्वरकी कृपासे ही तो है…'

'क्या कहा?…ईश्वरकी कृपासे?…और मैं जो दिन-रात अपना खून-पसीना एक करता रहा हूँ, यह क्या है माँ?…ईश्वर-फीश्वर कुछ नहीं। ईश्वर तो मनुष्यका आविष्कार है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। आजके युगमें यह आविष्कार काफी पुराना और बेकार पड़ गया है।… आजका युग मनुष्य ही बनाता-बिगाड़ता है…मेरे जीवनमें मैं जो कुछ भी कर सका हूँ वह मैंने किया है, मैंने…'

'कैसी बहकी-बहकी मूर्खों-जैसी बातें कर रहा है, बेटा?' गीतामें भगवान् कृष्णने कहा है—'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते…'

'माँ! हमारे-तुम्हारे रास्ते अलग-अलग हैं…तुम गीताकी बातें बीचमें लाकर मेरा दिमाग खराब मत किया करो…'

धर्मेन्द्रके उत्तरसे माँको अपार क्लेश हुआ। व्यथाका सागर उमड़ पड़ा। छोटा होता तो वह स्वयं समझाती, पर अब वह समझाने लायक तो रहा नहीं। अब तो ईश्वर ही समझाये तो समझाये। मनुष्यके वशकी बात नहीं। उसका अन्तर्मन जोर-जोरसे कृष्ण कन्हैयाको पुकारने लगा।

× × × ×

कई दिनोंसे धर्मेन्द्र रुग्ण है।

नगरके सभी बड़े-बड़े डॉक्टर चिकित्सा कर रहे हैं, पर कोई लाभ नहीं। लाभ क्या हो? डॉक्टर रोग ही नहीं पकड़ पा रहे हैं तो उनकी चिकित्सा लाभ कैसे कर सकती है?

धर्मेन्द्रको तीन दिन हो गये चारपाई पर पड़े हुए। घायल हिरन-सा तड़प रहा है धर्मेन्द्र। बस यही तड़पन ही उसकी बीमारी है। बेचैनी, घबड़ाहट, उद्वेग, चिन्ता—बस, यही सब है। डॉक्टरोंका कहना है कि उसके स्नायु-तन्तुओंने सन्तुलन खो दिया है। खोयी हुई चीज लौटानेके लिए औषधियाँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। कष्ट अधिक बढ़ जानेपर मरफियाकी सुई लगाकर विवशताकी नींद सुला दी जाती है। लेकिन अब मरफिया

देते भी डॉक्टर डर रहे हैं; मृत्युकी आशङ्का उनके चेहरों पर छा गयी है।

माँ, माँ ही है। प्रभादेवी दिन-रात जगकर परिचर्या कर रही हैं। पैसा तो वह पानीकी भाँति बहा रही हैं। जीवनमें पैसेको मिट्टीके ढेलोंसे अधिक कुछ भी नहीं समझा था उन्होंने और आज तो जब उसका एकमात्र पुत्र ही रुग्ण है तो पैसोंका क्या मोह ?

उन्होंने दवाके साथ-साथ दुआका भी प्रबन्ध कर दिया था। एक नैष्ठिक ब्राह्मणके आचार्यत्वमें ब्रह्म-मण्डली महामृत्युञ्जय जप कर रही थी।

आचार्यने प्रभादेवीको गुमसुम खड़े देखा तो सहानुभूतिसे उसका हृदय द्रवित हो गया। बोला—'माँ जी ! निराश न होइये···आशापर ही जीवन है···दैव-आराधनाका पुण्य होकर ही रहता है···'

'लेकिन यदि पुण्यकी अपेक्षा पाप अधिक हो, तब ?'

'तो उसके लिए तैयार रहना चाहिए।'

'वही तो मैं सोच रही हूँ कि मुझे क्या तैयारी करनी चाहिए···'

'परन्तु यह निश्चय कैसे हुआ कि तैयारीकी आवश्यता आ पड़ी है ?'

'डॉक्टर तो कहते हैं···'

'लेकिन वे ब्रह्मा तो नहीं।'

आचार्यकी इस बातने प्रभादेवीको निरुत्तर कर दिया।

आचार्यने पुनः प्रारम्भ किया, 'माँजी ! मेरा एक सुझाव था···यदि आप अन्यथा न लें तो निवेदन करूँ।'

'अन्यथाकी क्या बात है ?···कहिये आप।'

'यह निश्चय करनेके लिए कि वह अन्तिम समय आ गया है या नहीं, ज्योतिषीकी सहायता ली जा सकती है···एक ज्योतिषीको मैं जानता हूँ। उन्हें ला भी सकता हूँ, लेकिन उनकी फीस दो सौ···'

'फीस-ऊसकी चिन्ता छोड़िये आचार्यजी, आप उन्हें तुरन्त लाइये।'

× × × ×

लगभग एक घण्टे बाद ज्योतिषीजी आये। उनका भव्य स्वरूप देखकर प्रभादेवीको विश्वास नहीं हुआ कि वह वही पुजारी शिवचरण हैं जिन्हें कभी धर्मेन्द्रने अपमानित करके निकाल दिया था।

ज्योतिषीने जन्मपत्री, हस्तरेखा, मस्तकरेखा एवं अन्य लक्षण देखकर गणना की और बोले—

'माँजी ! रोग तो इनका निश्चित ही ठीक होना चाहिए···आयु तो अभी बड़ी लम्बी है। केवल पापग्रह इन्हें परेशान कर रहा है पर उसे महामृत्युंजय जपसे क्षीण किया जा सकता है।'

'जप तो हो रहा है।'

'अति उत्तम !···ठीक हो जायँगे', कहते-कहते ज्योतिषीजी चौंक-से पड़े। उन्हें चौंकते देख प्रभादेवीके मुखपर हवाइयाँ उड़ने लगीं। पूछ बैठीं, 'क्या कुछ गड़बड़ है ?'

'हाँ।'

'क्या ?' प्रभादेवीका दिल जोरोंसे धड़क रहा था।

'इनको तो अबतक कङ्गाल हो जाना चाहिए।'

× × × ×

धर्मेन्द्र स्वस्थ होकर पहली बार अपने कार्यालय गये। इकट्ठी डाकको उलट-पुलटकर देखने लगे। मैनेजरने आगे बढ़कर एक तार हाथमें थमा दिया और चुपचाप सिर झुकाकर खड़ा हो गया।

'यह क्या मैनेजर ?' तार पढ़ते ही चौंककर पूछा धर्मेन्द्रने।

फैक्ट्री फेल कर गयी सरकार !···दिवाला निकल गया है।··· पावनेदार अगर फैक्ट्री कुर्क करा लें तो भी ऊपरसे दो लाखकी रकम देय निकलती है।···आप बीमार थे इसलिए ज्यों-त्यों मैंने साझीदारोंको अटकाये रखा है।

'हम लुट गये मैनेजर !' धर्मेन्द्रने भर्राये गलेसे कहा और फफककर रो पड़े। कुर्सी ठेलकर उठे और दो कदम चलते ही लड़खड़ाकर गिर गये।

लगभग आध घण्टेकी बेहोशीके बाद आँख खुली तो उन्होंने अपनेको सोनेके कमरेमें बिस्तरपर पाया। माँकी गोदमें सिर रखा हुआ था। शहरके नामी डाक्टर खड़े थे। वहीं एक कुर्सीपर ज्योतिषी शिवचरण भी बैठे थे।

'माँ हम कङ्गाल हो गये।···फैक्ट्री फेल कर गयी···दस लाखकी पूँजी डूब गयी माँ···दो लाख और देना है···बारह लाख···कहाँसे आयेगा यह बारह लाख ?···माँ, इन डाक्टरोंको तुरन्त निकालो, अब हम इन्हें फीस तक नहीं दे सकते··जहर खानेके लिए तो पैसा रहा नहीं, दवा कहाँसे खायँगे—माँ···'

'देखिए, चिन्ता न कीजिए···हार्टपर बुरा असर पड़ेगा ?' डाक्टरने समझाया।

ज्योतिषी शिवचरणने गला साफकर कहा, 'धर्मेन्द्र बेटा ! मेरे रहते तुम्हें किस बातकी चिन्ता ? मेरी तीन पीढ़ियोंने तुम्हारे परिवारका नमक खाया है; आज शायद हरिइच्छासे ऐसा अवसर आ गया है कि मैं उऋण हो सकूँ···'

'पुजारी जी ! शंख और घण्टीसे बारह लाख रुपये नहीं निकल सकते···अब मैं क्या करूँ ?···'

शिवचरणने चेकबुक निकालकर हस्ताक्षर करते हुए कहा, 'शंख और घण्टीकी ही कृपासे आज मैं तुम्हारे लिये चेक काट सकने योग्य हूँ···बोलो, कितना लिख दूँ ?'

सभी अवाक् से शिवचरणका मुख देखते रह गये।

'लेकिन अगर यह रकम मैं न लौटा सकूँ तो ?' धर्मेन्द्रने मौन भङ्ग किया।

'चार लाख तो मेरा अपना है···न लौटा तो मुझे संतोष है, लेकिन शेष धन कई ट्रस्टोंका होगा जिनका मैं प्रेसीडेन्ट हूँ। उस धनके लिए तुम्हें ट्रस्टोंके नाम फैक्ट्री गिरवी रख देनी होगी···'

'मगर यह सब हुआ कैसे ?'

कथा लम्बी है; संसारको समझानेके लिए समझ लो कि यह मैंने ज्योतिषसे कमाया है और जो ट्रस्टोंकी अध्यक्षता है वह मेरी चारित्रिक शुद्धि, हाई-सर्किलसे जान-पहचान एवं सेठोंको मेरे अनुष्ठानोंसे होनेवाले करोड़ों रुपयेके लाभोंका परिणाम है।···लेकिन जो मैं समझता हूँ···जो वास्तविक कारण है वह है मुरलीवालेकी कृपा, उन्होंने कहा था···"योग-क्षेमं वहाम्यहम्···मद्भक्तः न प्रणश्यति···'

शिवचरणने पूछा, 'बोलो, कितना लिख दूँ ?'

'केवल दो लाख।'

'पर तुम तो बारह लाख कह रहे थे ?'

'अब मैं वह धन्धा बन्द कर दूँगा···वह पापकी कमाई है।···दो लाख पावनेदारोंके निकलेंगे, वही दे दूँगा, बस हिसाब साफ।'

'और आगे ?'

'कृष्णभक्ति एवं योगक्षेमं वहाम्यहम् पर अटूट निष्ठा।' धर्मेन्द्रने ऐसा अनुभव किया जैसे वह पाप-मुक्त हो गया है।

●

गड़के रह जाय न दिलमें जो निशानी क्या है ?
जिसको दुहराय न दुनिया वह कहानी क्या है ?
हौसला दिलमें, नीयत साफ, और मकसद ऊँचा—
गर जवानीमें नहीं ये, तो जवानी क्या है ?

●

पधारो, माँ काली आओ !

स्वामी विवेकानन्द

(अंग्रेजीसे अनुवाद)

हो गई धूमिल तारक - ज्योति
हुआ मेघाच्छादित आकाश
घिरा प्रलयंकारी तम घोर !
गर्जते पवनावर्तों मध्य
सहस्रों आत्माएँ उन्मत्त
पाश-कारासे सद्यः मुक्त—
प्रभंजन वाहित वृक्ष उखाड़
जगत्पथ पर अद्भुत संहार।
उठ रहा सागरमें तूफान
पर्वतों-सी लहरोंकी सृष्टि
चूमती नभके ऊँचे छोर,
तीक्ष्ण विद्युत्की सहसा कौंध
छिटकती है चहुँ दिश, चहुँ ओर।
मृत्युकी छायाएँ शत-कोटि
मलिन, श्यामल हैं जिनके वर्ण–
दुःख, उत्पात, कोप, रोगादि
प्रसारित, नृत्यानन्दोन्माद।
पधारो, माँ काली आओ !

तुम्हारी संज्ञा म. 'भय', 'त्रास'
तुम्हारी साँसोंमें माँ मृत्यु,
तुम्हारे चरणोंका प्रतिकम्प–
विनष्ट करे सारा संसार
'सर्वनाशिनी' तू ही ,'काल'
पधारो, माँ काली आओ !

कष्टमय प्रेम, कंटकित मार्ग
साहसिक, कालालिंगन-विद्ध
हुआ जो ध्वंस-नृत्यमें लीन
उसे होती माँ तेरी प्राप्ति।

अनुवादक : सन्तकुमार टण्डन 'रसिक'

ईश्वरको समर्पित जीवन ही सार्थक—

कवीन्द्र रवीन्द्रके काव्योंमें भक्ति

कुमारी जयन्ती भट्टाचार्य एम० ए०

★

वैष्णव भक्तिशास्त्रमें आत्मनिवेदनका मुख्य स्थान है। कवीन्द्र रवीन्द्रके काव्योंमें भी भक्तिके लिए उत्कृष्ट स्थान है। उनके सम्पूर्ण काव्योंमें ईश्वर-भक्तिकी ही झलक ही दिखायी पड़ती है। उनकी भक्ति जीवन-देवताके चरणोंमें ही समर्पित थी। उन्होंने हर एक संगीतके माध्यमसे वही भाव व्यक्त किया है। वे जीवननाथको प्राप्त करनेके लिए कितने व्याकुल हैं—

चाइ गो आमि तोमारे चाइ तोमाय आमि चाइ।
एइ कथाटि सदाइ मने बोलते येन पाइ॥
आर या किछु वासनाते घुरे बेराइ दिने रात।
मिथ्यासे सब मिथ्या ओ गो तोमाय आमि चाइ॥

(—गीताञ्जलि)

अर्थात् 'मैं तुमको ही चाहता हूँ इस बातको मैं सर्वदा कह सकूँ। समग्र दिन-रातकी वेलामें मैं जो कुछ भी वासनावश करता हूँ वह सब कुछ मिथ्या है मैं केवल तुमको ही चाहता हूँ।'

'नैवेद्य' नामक काव्यमें भी कविका कहना है कि 'तुम्हारे नामकी रागिनी हर समय हमारे जीवन-कुञ्जमें बजे, एवं तुम्हारा आसन हमारे हृदयपद्मपर नित्य विराजित हो।' यह भक्तिका चरम आदर्श है।

भक्त अपने आराध्यके बिना सब कुछ शून्य ही देखता है—

की लये वा गर्व करि व्यर्थ जीवने।
भरा गृहे शून्य आमि तोमा विहने॥ (गीताञ्जलि)

'मैं किस वस्तुको लेकर गर्व करूँ? इस व्यर्थ जीवनमें मैं भरे हुए घरमें भी शून्यताका अनुभव करता हूँ तुम्हारे विरहमें।'

इस प्रकार कवीन्द्र रवीन्द्रकी रचनाओंमें ईश्वर-भक्ति ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। उनका जीवन ईश्वरके चरणोंमें ही अर्पित था।

'स्मरण'को अत्यधिक महत्त्व कवि देते थे। वे अपना काम ईश्वरको स्मरण करके ही करते थे; निम्नांङ्कित पङ्क्तियोंपर दृष्टिपात कीजये—

आजि प्रणमि तोमारे चलिब नाथ संसार काजे।
तुमि आमार नयने नयने नयन रेखो अन्तर माझे॥

नाथ! आज तुम्हारे चरणोंमें प्रणाम करके मैं संसारके कार्यके लिए चलता हूँ। तुम मेरे अन्तरमें स्थित रहकर मेरी प्रत्येक दृष्टिमें अपनी दृष्टि रखना, मुझे सतत सावधान करते रहना।

कवीन्द्र रवीन्द्र अपने वाह्य जीवनमें बहुत धनी-मानी थे, बड़े लोगोंमें गिने जाते, किन्तु हृदयसे वे भक्त थे। भक्ति ही उनके जीवनका सर्वस्व थी। इसीलिए उनके गीतोंमें उनकी वह आन्तरिक भावना ही अभिव्यक्त हुई है।

धने जने आछि जड़ाये हाय, तबु जान मन तोमारे चाय। (गीताञ्जलि)

'मैं धन जन आदिके द्वारा वेष्टित हूँ फिर भी मेरा मन केवल तुमको ही चाहता है।'

भक्ति-शास्त्रोंका कथन है कि सम्पूर्ण प्रेम ईश्वरके लिए हो। कवि भी अपने गीतोंमें यही प्रार्थना करता है कि 'प्रभो! मेरा सम्पूर्ण प्रेम केवल तुम्हें पानेके लिए हो।'

"धाय येन मोर सकल भालोवासा
प्रभु, तोमार पाने, तोमार पाने, तोमार पाने।"—गीतांजलि

कवीन्द्र कहते हैं—'कवि संगीत रचना करता है उसका अर्थ भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न लगाते हैं पर उसके शेष अर्थ तुम्हारी ओर ही जाते हैं। देखिए :—

'कवि आपनार गाने यत कथा कहे
नाना जने लहे तार नाना अर्थ हानि,
तोमा-पाने धाय तार शेष अर्थ खानि।'—नैवेद्य

जीवात्मा जन्म-जन्मसे परमात्मासे मिलनेके लिए प्यासी भटकती है। मनुष्यजीवनकी चरमसार्थकता ईश्वर-प्राप्तिमें ही है। कवीन्द्र यह अनुभव करते हैं कि वे जन्म-जन्मसे ही जीवन-देवताकी खोजमें हैं। कविको धुँधला-सा स्मरण होता है कि 'वे कबसे जीवन-देवताको खोज रहे हैं, भूल गये हैं और उनको विभिन्नरूपमें खोजते आ रहे हैं बहुत युगोंसे।' उपर्युक्त भाव 'गीतांजलि' के इस गीतमें हृदयंगम करने योग्य है :—

'कबे आमि बाहिर हलेम तोमार इनाम गेये
से तो आजके नयसे आजके नय।
भूले गेछि कबे थेके आसधि तोमाय चेये'

कविका अन्तिम विनय देखिये : उनकी प्रार्थना केवल यही है कि 'जीवन-देवता उन्हें ग्रहण करें और उनका हृदय भी ले लें, जो दिन उनके विना व्यतीत हुआ है उसको वे वापस नहीं चाहते। अब तो केवल यही कहना है कि जीवन-देवताके साथ ही जीवनका दिन बीते एवं किसी भी बहाने जीवन-देवता उन्हें वापस न लौटावें—

'तुमि ख्वार आमाय लहो हे नाथ, लहो
ख्वार तुमि फिरो ना हे—
हृदय केड़े निये रहो।
ये दिन गेधे तोमा विना
तारे आर फिरे चाहिना,
याक से धूलाते—
एखन तोमार आलोय जीवन मेले
येन जागि अहरह।'—गीतांञ्जलि

धर्म और स्वामी विवेकानन्द

श्रीगिरिराज यादव एम० ए०

★

धर्म शब्दकी उत्पत्ति 'धृ' धातुसे हुई है जिसका अर्थ है धारयति इति धर्मः। भारतीय जीवनके विभिन्न पहलू धर्मसे इतने अधिक प्रभावित एवं ओत-प्रोत हैं कि उनको अलग-अलग करके देखना अत्यन्त असम्भव है। जिस प्रकार पानीमें घुलनेके बाद शक्करको अलगसे इङ्गित नहीं किया जा सकता तथा वह जलमें पूरी तरहसे व्याप्त हो जाती है उसी प्रकारसे धर्म भी यहाँके जन-जीवनमें पूरी तरह व्याप्त हो चुका है। भारतीय विचारोंके क्षेत्रमें धर्मका जितना प्रभाव एवं महत्त्व है उतना शायद ही किसी विचारका रहा होगा। यहाँ राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था, व्यवहार आदि विषयोंके सम्बन्धमें जो भी विचार किया गया वह धर्मसे बहुत कुछ प्रभावित है। आज हम धार्मिक व्यक्ति उसे कहने लगते हैं जो ईश्वरमें विश्वास करता है, पूजा-पाठ करता है तथा उसके पहनाव, बोलचाल, विश्वास एवं अन्य व्यवहारोंमें धार्मिकता झलकती हो; परन्तु वास्तविकता यह है कि धर्म शब्दका प्रयोग चाहे जीवनके किसी भी व्यवहारके सम्बन्धमें किया जाय उसका सम्बन्ध मौलिक रूपसे नैतिक मानदण्डोंसे रहता है। उपनिषदोंके अनुसार धर्म और सत्य दोनों ही समानार्थक शब्द हैं।

धर्म न शब्द है और न सिद्धान्त है, वह अनुभूति है। यह सुनना या स्वीकार करना नहीं है। यह होना तथा बन जाना है। ईश्वरकी अनुभूति एक ही जीवनकालमें कर लेना भी सम्भव है। यह अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। ईश्वरानुभूतिके लिए त्याग, सेवा और प्रेम आवश्यक उपकरण हैं; परन्तु प्रकाश तथा अन्धकार, संसारका भोग तथा ईश्वरका भोग साथ-साथ नहीं चल सकते। ईश्वर तथा धन-कुबेरकी सेवा एक साथ नहीं की जा सकती। धार्मिक साधनाके मार्गमें पहला कदम त्याग है। त्याग एक सच्चे धार्मिक अथवा आध्यात्मिक जीवनकी एक अपरिहार्य एवं प्रथम आवश्यकता है।

आज धर्मको सम्प्रदायके रूपमें टुकड़े-टुकड़े करके धर्म-धर्मको भिड़ाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेमें कतिपय निहित स्वार्थवाले लगे हुए हैं जिसके कारण देशमें साम्प्रदायिक दंगे होते हैं। जब कि सब धर्मोंका सार एक ही है। प्रत्येक धर्ममें एक ही सत्य पाया जाता है। जो हिन्दुओंका ईश्वर है वही पारसियोंका अहुरमजदा है, बौद्धोंका बुद्ध है, यहूदियोंका जीहोवाह है, ईसाइयोंका स्वर्गमें रहनेवाला पिता है और मुसलमानोंका अल्लाह है। क्या रणक्षेत्रमें भगवान् कृष्णने अर्जुनसे नहीं कहा था कि मोतियोंकी मालामें धागेके समान मैं प्रत्येक धर्ममें रहता हूँ ?

स्वामी विवेकानन्द शिकागो धर्म-सम्मेलनमें कोई दस-ग्यारह बार बोले और अन्य बातोंके साथ-साथ उन्होंने यही कहा कि धर्ममें एकरूपता है। एक ईसाईको एक हिन्दू या एक मुसलमान या एक बौद्ध होना अथवा एक हिन्दूको एक ईसाई या एक मुसलमान हो जाना आवश्यक नहीं है, बल्कि प्रत्येक व्यक्तिको अन्य धर्मोंकी भावनाको आत्मसात् कर लेना चाहिए। उन्होंने कहा प्रत्येक धर्मकी ध्वजापर ये शब्द होने चाहिए—'सहायता, संघर्ष नहीं', 'आत्मसात्, विनाश नहीं', 'सामंजस्य तथा शान्ति, विरोध नहीं'।

भारत विश्वका आध्यात्मिक गुरु रहा है। संसारके देश उससे सीखनेको लालायित रहते थे परन्तु आज भारतकी दशा विचित्र है! और ऐसा इसलिए है कि वह अपनी आध्यात्मिक शक्ति छोड़कर पश्चिमी भौतिकवादको अपनानेके लिए दौड़ रहा है जबकि वस्तु स्थिति यह है कि पश्चिमी जीवन एक खोखले अट्टहासके सदृश है, परन्तु उसके नीचे एक विलाप है। उसका अन्त एक सिसकीमें होता है हास-परिहास तो सब धरातलपर है। वास्तवमें तो वह तीव्र दुःखसे भरा हुआ है। भारतकी ऊपरी सतहपर दुःख और अवसाद है, परन्तु उसके नीचे चिन्ताहीन आनन्दोत्सव है। आज भारतको महान् आध्यात्मिक सत्यकी परमावश्यकता है, जिसे हम भूल चुके हैं। हमारी दशा आज ठीक कस्तूरी-मृगकी भाँति है जो खुशबूकी तलाशमें भटक रहा है।

धर्मका मूल मानव-इन्द्रियोंकी सीमाओंका अतिक्रमण करनेके लिए मानव-बुद्धिसे स्वाभाविक संघर्षमें है, प्रकृति-पूजा अथवा पूर्वज-पूजामें नहीं है। आज जब कि धर्मको अफीम कहकर उसका उपहास करने और उसे कोरा अन्धविश्वास समझकर उसकी निन्दा करना एक फैशन बन गया है परन्तु मनुष्यके विषयमें सबसे अधिक निर्विवाद सत्य है कि वह बाह्य प्रकृति की, समाजकी, अपनी इन्द्रियों एवं बुद्धि की, और अपने व्यक्तित्वकी सीमाओंसे बँधा हुआ है। हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति इन सीमाओंका अतिक्रमण करके स्वतन्त्र हो जानेका प्रयास कर रहा है। मनुष्य जाने या अनजाने यह अनुभव करता है कि वह बँधा हुआ है। वह यह भी पाता है कि उसके भीतर कुछ ऐसा तत्त्व है जो उड़कर किसी ऐसे पूर्ण तत्त्वमें विलीन होना चाहता है जहाँ शरीर नहीं जा सकता।

स्वामी विवेकानन्दने धर्मको राष्ट्रीय जीवनका केन्द्र बनाया था और इस बातपर बार-बार बल दिया था कि धर्म भारतकी हृदय तथा आत्मा है और यदि हमने इसकी आध्यात्मिकताका परित्याग कर दिया तो हमारी जाति नष्ट हो जायेगी, हम नष्ट हो जायेंगे। उन्होंने भारतवासियोंको यह भी चेतावनी दी थी कि याद रखना यदि तुमने अपनी आध्यात्मिकताका परित्याग करके पश्चिमकी भौतिकवादी सभ्यताके पीछे दौड़ना प्रारम्भ कर दिया तो तीन पीढ़ियोंमें ही तुम्हारी जाति नष्ट हो जायेगी। जिसकी नींवके ऊपर राष्ट्रीय भवनका निर्माण किया है। वह हिल उठेगी और परिणाम होगा सर्वनाश।

स्वामी विवेकानन्दने प्रत्येक आत्माकी दैविकताका उपदेश दिया जिसकी अनुभूति कर्मके द्वारा, भक्तिके द्वारा अथवा ज्ञानके द्वारा या इन तीनोंके द्वारा की जा सकती है। धर्मका मूल-तत्त्व अनुभूतिमें है, सिद्धान्त, संस्कार इत्यादिका स्थान तो गौण है।

स्वामी विवेकानन्दके अनुसार प्रत्येक धर्मके तीन भाग होते हैं—उसका दर्शन तथा आदर्श, उसका पुराण तथा उसका कर्मकाण्ड। उन्होंने यह भी कहा कि संसारके धर्म एक दूसरेके विरोधी नहीं हैं, वे एक ही शाश्वत धर्मकी विभिन्न अवस्थाएँ मात्र है। सदैव ही एक निःसीम धर्म रहा है और वह सदैव रहेगा और वह धर्म अपने आपको विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारसे अभिव्यक्त कर रहा है। अतएव हमको सभी धर्मोंको स्वीकार करना चाहिए और हमें उन सबको यथासम्भव अधिकसे अधिक स्वीकार करनेका प्रयत्न करना चाहिए। सबसे बड़ी आवश्यकता इस बातकी है कि हम सब इस मूल रहस्यको समझ लें कि सत्य एक समयमें एक होते हुए भी अनेक हो सकता है और विभिन्न दृष्टिकोणोंसे देखनेपर एक ही सत्यके विभिन्न रूप दिखायी पड़ सकते हैं। तब, हम किसीके भी प्रति विरोध भाव रखनेके बजाय सबके प्रति असीम सहानुभूति रखेंगे। उपनिषदोंमें भी यह बात स्पष्ट है कि सत्ता केवल एककी है, ऋषिगण उसे बहुत-से नामोंसे पुकारते हैं।

हिन्दू धर्मका मूल तत्त्व उपनिषदों, गीता तथा व्यासके सूत्रोंमें है। वेदान्तमें अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैतवाद सम्मिलित हैं। विभिन्न दर्शन-पद्धतियोंमें कोई विरोध नहीं है। गीताके अनुसार आत्माको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, वायु अथवा सूर्य उसे सुखा नहीं सकता। वह अजन्मा, अमर तथा परिवर्तनहीन है। वह निस्सीम तथा शाश्वत है। उसमें ये समस्त गुण इसलिए हैं क्योंकि वह परमात्मासे अभिन्न है।

प्रत्येक देशकी एक अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति होती है, प्रत्येक देशका अपना विशिष्ट जीवन-लक्ष्य होता है और प्रत्येक देशको संसारके जीवनमें अपना एक विशिष्ट उद्देश्य, सदैव धर्म रहा है। राजनीतिक महत्त्व अथवा सैनिक-शक्ति कभी भी हमारे देशका उद्देश्य नहीं रहा। यह हमारा उद्देश्य न तो कभी था और न कभी होगा। फिर आज हम धार्मिक—तापसिक मार्गसे विचलित होकर क्यों भौतिकवादी चमक-दमककी ओर अग्रसर हो रहे हैं? स्वामी विवेकानन्दके शब्दोंमें भी 'धर्म भारतके राष्ट्रीय जीवनके समग्र संगीतका मुख्य स्वर एवं केन्द्र है।'

आज व्यक्ति स्वयं अपने ही रूपसे भयभीत है, आजकी फैशन-परस्ती उसे ही खाये जा रही है, आजका सँकरा और नग्न लिबास उसे मनुष्यत्वसे हटाकर पशुत्वकी ओर ले जा रहा है। आज भ्रष्टाचार, व्यभिचारका व्यापक बोलबाला है। आजके व्यक्तिके जीवनमें शान्ति, सुख, न्याय, चरित्र आदिका अभाव पनप रहा है। ऐसा क्यों है? मानव आत्मा सुखानुभूति एवं शान्ति क्यों नहीं कर पा रही है? इन सबके पीछे एक ही कारण है कि वह धर्मके मार्गसे विचलित हो रहा है, एक सही मार्गको छोड़कर चक्रव्यूहकी ओर बढ़ रहा है जो उसे लील जायेगा। आज इस कलियुगमें आवश्यकता है कि प्रत्येक मानव चाहे वह किसी भी जाति अथवा धर्मका हो विवेकानन्दकी धर्मकी सामयिक व्याख्याके अनुसार चले, पवित्र बना रहे, दयावान् और श्रमशील हो, धर्मके माध्यमसे ही इन समस्त रोगोंसे मुक्ति मिल सकती है तथा इहलोक एवं परलोक सुधारा जा सकता है। आज आवश्यकता इस बातकी है कि व्यक्ति धर्मयुक्त हो। भले ही वह कर्मकाण्डके विस्तारको व्यस्त जीवनमें न अपना सके।

ब्रह्मलीन श्रीजुगल किशोर विरलाकी स्मृतिमें :

एक ज्योति

'राम'

★

एक ज्योति उतरी थी जगमें नव प्रकाश देनेको,
तिमिर-सिंधुमें डगमग तरणीको उवार लेनेको।

× × ×

कूट नीति वश बाँट पुस्तकें और दवा रोगों पर,
रंग फिरंगी जमा रहे थे भारतके लोगों पर।
नये विचार कबूल भूल कर धर्म दार्शनिक अपना,
लगे देखने लोग साहवी ठाट-बाटका सपना।
अवहेलिता आर्य-संस्कृतिको पुनर्वास देने को,
एक ज्योति उतरी थी जगमें नव प्रकाश देनेको।

फैशन-सा बन गया जहाँ था गिरिजा घरको होना,
वहाँ मन्दिरोंसे चमका भारतका कोना-कोना।
पुनः प्रवाहित हुई पूर्ववत् दान धर्मकी धारा,
दीन दुखी पीड़ित जनताने पाया नया सतारा।
दानवतासे पीड़ित मानवकी नौका खेनेको,
एक ज्योति उतरी थी जगमें नव प्रकाश देनेको।

कलमा और कुरान बाइबिलके स्वरसे उठ ऊपर,
गूँज उठे भगवद्गीताके वेद-ऋचाओंके स्वर।
सन्तोंकी वाणी मुखरित सुन मानव कंज खिला था,
भारतको फिर निज संस्कृतिका गौरव-गान मिला था।
त्याग और निष्काम कर्मका फिर आश्रय लेनेको,
एक ज्योति उतरी थी जगमें नव प्रकाश देनेको।

●

आप अपनी उन्नति करनेसे पूर्व इस प्रश्नपर विचार करें

आखिर आप करना क्या चाहते हैं ?

आचार्य डॉ० रामचरण महेन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०

'मेरे जीवनका क्या कोई लक्ष्य है ?'

'मैं किधर चल रहा हूँ ? इस मार्गमें आगे क्या-क्या लाभ अथवा उन्नतिकी सीढ़ियाँ है ?'

'क्या इस रास्तेपर दूसरे लोग भी बढ़े हैं ? उन्हें क्या-क्या सफलताएँ या मुसीबतें उठानी पड़ी हैं ?'

उपर्युक्त प्रश्नोंका आपके पास क्या उत्तर है ? वह व्यक्ति जिसका कोई निश्चित उद्देश्य ही नहीं है, प्रत्येक स्थितिमें भूला ही रहेगा और अन्ततः कहीं भी नहीं पहुँच सकेगा। बहुमूल्य मानव-जीवनसे अधिक-से-अधिक लाभ उठानेके लिए आपको अभीसे अपने जीवनोद्देश्यके विषयमें स्पष्ट हो जाना चाहिए।

आपके मनमें दूसरोंको सफल और प्रशंसित देखकर कभी नेता, अमीर व्यापारी, वकील, कुशल चिकित्सक, डाक्टर, और कभी किसान, जनसेवक, धर्मगुरु, त्यागी, कर्मयोगी, विद्वान् लेखक, सन्त, अथवा महात्मा बननेकी उमंगें उठा करती हैं। लेकिन साधारण इच्छाएँ या ललक आपका उद्देश्य नहीं हैं। अनेक आकर्षक तरंगें और मनोहर कल्पनाएँ तो आकाशके रंगीन बादलोंकी भाँति मानसिक क्षितिजपर क्षण-क्षणमें उठती और नष्ट होती रहती हैं। ये आपकी रुचिका विषय तो हो सकती हैं, किन्तु वास्तविक उद्देश्य नहीं।

आपके जीवनका लक्ष्य वह कार्य है, जिसके विषयमें आपका स्थायी रुझान या प्रवृत्ति है। उस उद्देश्यकी ओर आप स्वाभाविक रूपमें आकृष्ट हैं। वह किसीके द्वारा आपपर लादा नहीं गया है। प्रकृति स्वयं ही चुपचाप आपको तेजीसे उस ओर खींचती है। आप चुम्बककी तरह स्वयं उस ओर भागते हैं। आपका उद्देश्य एक बार निश्चित होकर नहीं बदल सकता। वह आपके मनकी सहज वृत्तिसे सम्बन्धित है। मनका विभ्रम, चंचलता, क्षणिक आवेश, उत्तेजना या बीमारी भी उसे नहीं दबा सकती। उद्देश्यके चुनावमें भावनाका अधिक सम्मिश्रण होता है, विचारका इतना नहीं।

अपने आपको तोलकर देखिए। जिस उद्देश्यकी ओर आपका अन्तःकरण स्वतः ही उन्मुख होता है, जो आपकी आत्माकी आवाज बार-बार कहती है, जिसकी ओर आप स्वतः अन्दर ही अन्दर प्रेरित हैं, जिसे सम्पन्न करनेमें आप अधिक-से-अधिक अपना और संसारका कल्याण समझते हैं, वही आपके जीवनका उद्देश्य है।

आपकी भावनाओं और गुप्त संस्कारोंका झुकाव स्वतः इसी उद्देश्यकी ओर होगा। भावना हमारे विचारों और बुद्धिका सृजन करती है और कार्य करनेको उत्साहित करती है। आपकी भावना साधारण कल्पनासे ऊँची और दृढ़तर वस्तु है। इसकी जड़ें अव्यक्त मनके अतल क्षेत्रमें गहरी जमी रहती हैं।

आपकी भावना आपकी रुचिका निर्माण करती है। कुछ ऐसे ऊँचे कार्य हैं जिन्हें पूर्ण करनेमें आपको स्वतः आनन्द आवेगा। आप इन शुभ कार्योंको करनेमें शौक और आनन्दसे दिलचस्पी लेंगे। ऊँचे उठनेवाले महापुरुषोंके जीवन-चरित्रोंका अध्ययन करनेपर हमें मालूम होता है कि वे किसी विशेष दिशा या उच्च उद्देश्यमें अखण्ड विश्वास और निष्ठा रखते थे। उनका दिशाबोध या रुचिका स्पष्टीकरण दो प्रकारसे हुआ था—

१. उनके पास अपने जीवनका एक निश्चित उद्देश्य, कामको पूर्ण करनेकी एक विशिष्ट योजना महत्त्वपूर्ण लक्ष्यकी सिद्धिको सिद्ध करनेकी बलवती धारणा थी।

२. अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए उन्होंने पवित्र और शुभ साधनोंको काममें लिया था। संक्षेपमें वे अपने उद्देश्यके धुनी थे। कठिनाइयोंसे कामको बीचमें छोड़नेवाले न थे।

असफलताएँ और अधूरे प्रयास

सेन्टपाल जब अपने जीवनके अन्तिम दिनोंके समीप पहुँचे तो अपने विगत जीवनपर एक दृष्टि डालकर उन्होंने कहा—

'परमेश्वरको धन्यवाद है कि मैं एक अच्छे उद्देश्यके लिए सतत संघर्ष करता रहा।'

उनका यह वक्तव्य उनके उन कार्यों तथा उन कठिनाइयोंपर आधारित था, जिन्हें उन्होंने दृढ़ इच्छा और निश्चयबलसे विजित किया था।

यदि हम आज यही प्रश्न पूछें कि आपने अपने जीवनमें क्या किया ?

उत्तर संभवतः इस प्रकारके होंगे—

'हाय ! मैं जीवन भर अपना बहुमूल्य समय व्यर्थके कार्योंमें नष्ट करता रहा। मैं अज्ञानमें पत्थरोंसे खेलता रहा, जबकि कीमती जीवन-मणियाँ मेरे समीप ही पड़ी रहीं और उठा लेनेकी प्रतीक्षा करती रहीं। मेरे देखते-देखते साधारण योग्यता और गरीब व्यक्ति मुझसे जीवनकी दौड़में आगे निकल गये, जबकि मैं यों ही आलस्य और अन्धकारमें पीछे पड़ा रहा। मेरी आशाएँ कपोल-कल्पना मात्र थीं, जिनका अस्तित्व जलके थोथे बुलबुलोंके समान असत्य और क्षणभंगुर था। हाय, मैं आज दुःखी तो हूँ, लेकिन मैंने कभी डटकर परिश्रम न किया। सारे काम ढीले-ढाले तरीके और आधे मनसे करता रहा। मैंने जो प्रगति की है, उसमें कोई उल्लेखनीय बात नहीं है।'

यह मानसिक पश्चात्ताप और वेदना अनेक व्यक्तियोंके जीवनमें आँसू भर देती है। यह दुःख उन व्यक्तियोंका है, जो सदा अधूरे मन और विशृङ्खलित शक्तियोंके कारण प्राप्त असफलतासे भयभीत होकर जीवन काट रहे हैं !

किन्तु सावधान ! आप इस असफलता-जन्य पश्चात्तापसे बचें। अभी पर्याप्त समय शेष है। मनुष्य जब उन्नतिका लक्ष्य बना ले, तभी सवेरा मानना चाहिए।

अभीसे कोई पथ क्यों न निर्धारित कर लीजिए ! अभी पर्य्याप्त उन्नतिका कार्य सम्भव हो सकता है। एकबार सचाईसे अपने मन, शक्तियों, विशेषताओं और अभिरुचियोंका अध्ययन-कर अपने जीवनका स्थायी उद्देश्य चुन लीजिए।

निरुद्देश्य जीवनके क्या कारण हैं ?

आप यों ही नेत्रोंपर पट्टी बाँधे मूर्खोंकी तरह इधर-उधर भागे-भागे फिरते रहे हैं। आपको कोई सच्चा पथ-प्रदर्शक नहीं मिला है। बहुत समय व्यर्थ बरबाद हो गया। भविष्यमें यों भटकते रहनेसे कोई लाभ नहीं है। आपको किसी मानसशास्त्र-विशेषज्ञकी सलाह मानकर जीवन-पथ निर्धारित करना चाहिए।

आपके निरुद्देश्य जीवनका दूसरा कारण आपका शर्मीला लज्जाशील स्वभाव है। असामाजिक व्यक्ति दूसरोंसे अलग जा पड़ता है। वह आत्म-हीनतासे ग्रसित रहता है और जमकर ठोस कार्य नहीं करना चाहता। उसमें पौरुषका अभाव होता है। किसी स्नायिविक लम्बी बीमारीके कारण कुछ व्यक्ति इतने शिथिल हो जाते हैं कि वे अपना उद्देश्य नहीं चुन पाते। मनकी अति चंचलता, एक पुराने कार्यको पूर्ण न कर नयेको आरम्भ कर बैठना, उद्देश्य-पर चित्तको एकाग्र न कर सकना अर्थात् टिड्डी मन निरुद्देश्य जीवनका कारण बन जाता है। इस संशयात्मक मनोवृत्तिसे इच्छा-शक्तिकी दृढ़ता नष्ट हो जाती है। कभी-कभी बिना अपनी विशेषताओं, पर्य्याप्त साधनों या स्वाभाविक रुचियोंके कोई कार्य चुन लिया जाता है, जो अन्तमें असफलताका कारण बनता है।

निरुद्देश्य जीवनके अन्तिम दो कारण विशेष ध्यान देने योग्य हैं। १, निराशावादिता:—यह नकारात्मक (Negative thinking) सोचनेकी भावना, कठोर और शुष्क वातावरण, या बचपनके कुसंस्कारोंके कारण उत्पन्न हो जाती है। २. भाग्यवादिता—इस भावनाके कारण दुर्बलचित्त व्यक्ति अपने आपको भाग्यका खिलौना, किसी अदृष्ट शक्तिके हाथोंमें एक नगण्य कठपुतली मात्र मानते हैं। आप इन भयंकर मानसिक शत्रुओंसे सदा सावधान रहें !

अपना जीवन-उद्देश्य चुनते समय यह देख लीजिये कि वह उचित है या नहीं ? आपकी शक्तियों द्वारा सम्भव है, या नहीं ? क्या आप अपने साधनों, मित्रोंकी सहायता, आर्थिक हालत, पुस्तकों, विशेष ज्ञान और अपने स्वास्थ्यकी सहायतासे उसे कर सकेंगे ? इस लक्ष्यसिद्धिमें क्या-क्या अड़चनें आ सकती हैं ? क्या आप इन्हें दूर कर सकेंगे ? कहीं यह कार्य आपको अधिक मँहगा तो नहीं पड़ेगा ? यदि यह कार्य न हो सका, तो क्या उस अपूर्ण कार्यको ही देखकर आपको मन.सन्तोष हो सकेगा कि आपने एक भले कार्यके लिए प्रयत्न तो किया।

व्यर्थकी शंकाएँ त्यागिये

शिकायतें करना, पर-दोषदर्शन और निराशादिताकी कायर बातचीत छोड़ दीजिये। जो व्यक्ति इन बातोंमें लगा रहता है, वह कठोर कामसे जी चुरानेवाला, कुछ भी डटकर न करने-वाला, महज थोथी बातें करनेवाला शेखचिल्ली मात्र होता है। दूसरी ओर अपने उद्देश्य इतने ऊँचे भी मत बना लीजिये कि आप उस तक पहुँचनेके योग्य ही न हों। अपनी महत्त्वाकांक्षाओं और योग्यताओंमें पर्याप्त सन्तुलन रखिये। दूसरे उपहास करेंगे, मनसे यह मिथ्या भय त्याग दीजिये।

अपने सुनिश्चित उद्देश्यकी ओर निरन्तर अथक गतिसे बढ़ते रहना ही जीवन-दौड़में जीतनेका प्रथम लक्षण है। स्मरण रखिए, हानिलाभका क्रम जिन्दगीमें सर्वत्र चलता रहता है, किन्तु यदि आप इष्टसिद्धि (लक्ष्यप्राप्ति) कर लेते हैं, तो यह हानि नगण्य है।

आपकी सिद्धिमें सबसे सहायक ये वस्तुएँ हैं १. शरीरका उत्तम स्वास्थ्य २. मनका स्वास्थ्य—उत्साहपूर्ण आशावादी दृष्टिकोण ३. सच्चे मित्र और आन्तरिक हितैषी ४. चरित्र-निर्माण और व्यक्तित्वको निखारनेवाली उत्तम पुस्तकें जिनके अनुभवके बलपर आपको निरन्तर चलना होगा ५. आन्तरिक शान्ति, जिससे आपका मस्तिष्क कुशलतासे कार्य कर सकेगा। ६. दूसरोंका सहयोग और सेवा। इन सबको साथ लेकर चलनेवाला सदैव लाभान्वित होगा। अपने उद्देश्योंकी पूर्तिमें इनका सहयोग लीजिए। अपने व्यक्तित्वकी विशेषताओंको विकसितकर प्रकट करना, अपने मौलिक विचारोंको समाजके सम्मुख उपस्थित करना, अपने दृष्टिकोणको दृढ़तासे सबके सम्मुख स्पष्टरूपसे पेश करना आपके आत्म-प्रकटीकरणके नाना रूप हैं। पुस्तकें या लेख इत्यादि लिखकर, समाचार पत्रों, मासिक पत्रों, साप्ताहिक पत्रोंमें अपने विचार लेखबद्ध कर जनताके समक्ष पेश करना, भाषण देना, क्लबोंमें खुले दिलसे बातचीत करना, मित्र-मण्डलीमें बोलनेसे न हिचकिचाना, जब कभी कोई भाषण देनेको कहे पीछे न रहना, दूसरोंको आकर्षित करनेके कुछ उपाय हैं। इन साधनोंको क्रियान्वित करनेसे आप जनता, अपने अफसर या व्यवसाय चलानेवाले पूँजीपतिका विश्वास प्राप्त कर सकते हैं। एक बार जनताका विश्वास प्राप्त करनेपर आप वैयक्तिक और सार्वजनिक जीवनमें अद्भुत सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

ध्येय-प्राप्तिके लिए कुछ सुझाव

आपने अपने जीवनका ध्येय निश्चित कर लिया है और आप उसकी ओर बढ़ रहे हैं। तब लक्ष्यपूर्त्तिके लिए कुछ आवश्यक बातोंपर गौर करना जरूरी है :—

आप एक दिन पूर्ण समृद्ध, पूर्ण विकसित होकर समाजमें मान-प्रतिष्ठा, उन्नति आदिकी तीव्र बलवती इच्छा रखें और अपने कामके प्रति चाव उत्पन्न करें। गहरी इच्छासे जीवन प्रगतिमय होता है। प्रारम्भमें उन्नति धीमी गतिसे होती है, मूर्ख लोग हँसी उड़ाते हैं, पर आप उनकी परवाह न करें। आप इनकी थोथी आलोचनाओंसे निरुत्साहित होकर पीछे न हटें। जो आज असम्भव मालूम होता है, वह आपके निरन्तर बढ़ते हुए सच्चे प्रयत्नों द्वारा ही सफल होना सम्भव है।

अपना उत्साह बनाये रहिए। तीव्र इच्छाके बाद आपका उत्साह आपको आगे बढ़ानेवाली शक्ति है। जिसके बिना प्रगति कठिन है। दृढ़ निश्चय कर लीजिए कि आपकी इच्छा बहुत गहरी है और वह किसी भी तरफ बढ़नेवाली परिस्थितियोंमें नष्ट होनेवाली नहीं है। तीव्र इच्छा और न कम होनेवाले उत्साहसे भरा नवयुवक उन महापुरुषों-जैसे महान् काम कर सकता है, जिन्हें अस्थिर चित्तके लोग असम्भव कहा करते हैं।

ठोस और निरन्तर काम करनेकी आदत डालिये और उसे दिन प्रति दिन बढ़ाइये। कार्य ही वह आदत है जिसका व्यावहारिक जीवनमें महत्त्व है। जो लोग काम करनेका अपना स्वभाव ही बना लेते हैं; केवल वे ही जीवनमें कुछ कर पाते हैं।

जो अपनी पूरी योग्यता एवं शक्तिसे काम नहीं करते, उन्हें मर जाने दो, क्योंकि असफलता और मौत ही उनकी आवश्यकता है।

●

श्रीचैतन्यचरितामृत, मध्यलीला, २३।६०की टीकामें संकलित–

महिषी-हरण-लीलापर विचार

डा० श्रीराधागोविन्दनाथ

★

महिषी-हरण—महिषी-हरणके सम्बन्धमें महाभारतके मौसल-पर्वके सातवें अध्यायसे जाना जाता है कि वृष्णिवंशीय लोगोंके सत्कारादिके पश्चात् जब अर्जुनने सातवें दिन रथपर चढ़कर इन्द्रप्रस्थकी ओर यात्रा की, तब वृष्णिवंशीय कामिनीगण शोकार्त्त होकर रुदन करती हुई अश्व, बैल, गर्दभ, उष्ट्रसे जुड़े हुए रथोंपर चढ़कर उनके पीछे चलने लगीं। भृत्य, अश्वारोही और रथीगण एवं पुरवासी और जनपदवासी सब लोग अर्जुनकी आज्ञाके अनुसार वृद्ध, बालक और कामिनीगणको घेरकर चलने लगे। गजारोहीगण पर्वताकार गजोंपर चढ़कर चलने लगे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं वृष्णि और अन्धकवंशीय बालकगण वासुदेव (श्रीकृष्ण) की सोलह हजार पत्नियोंको और वज्रको आगे करके चलने लगे। इस समय भोज, वृष्णि और अन्धक वंशकी कितनी ही अनाथा स्त्रियाँ पार्थके साथ गयी थीं, जिनकी कोई संख्या नहीं। इस प्रकार महारथी अर्जुन यदुवंशीय उन असंख्य लोगोंके साथ द्वारका-नगरसे बाहर निकले।.........कुछ दिन पीछे वे अति समृद्ध पञ्चनद देशमें (पञ्जाबमें) उपस्थित होकर पशु और धान्यपूर्ण प्रदेशमें ठहरे। यहाँपर दस्युगणने धनञ्जयको अकेले ही उन अनाथा यदुकुल-कामिनियोंको ले जाते देखकर अर्थके लोभसे उनपर आक्रमण करनेकी इच्छा करके आपसमें इस प्रकार मन्त्रणा की कि धनञ्जय अकेले ही कितने ही वृद्ध, बालक और वनिताओंको लेकर जा रहे हैं, उनके अनुगामी योद्धागणकी भी वैसी क्षमता नहीं है, अतएव चलकर, हम लोग उनपर आक्रमण करके उनके धन,रत्न सब हरण कर लें। इस प्रकार परामर्श करके वे दस्युगण लाठियाँ हाथमें लिये हुए सिंहनाद करके द्वारकावासियोंको भयभीत करते हुए वहाँ उपस्थित हुए। तब महावीर धनञ्जय किसी प्रकार भी उनको निवारण नहीं कर सके। इसके अनन्तर सैन्यगणके समक्ष ही दस्युगण उन अबलाओंको हरण करने लगे एवं कोई-कोई स्त्री तो इच्छापूर्वक उनके साथ जाने लगी। अन्तमें वे दस्युगण उनके सामने ही वृष्णि और अन्धक लोगोंकी अति उत्कृष्ट कामिनीगणका अपहरण करके चलते बने। इसके बाद अर्जुनने बची हुई कामिनियोंको और रत्नराशिको लेकर कुरुक्षेत्रमें आकर हार्दिक्यतनय (कृतवर्माके पुत्र) और भोजकुल-कामिनीगणको मार्तिकावत नगरमें बसा दिया और बाकी बचे हुए बालक, वृद्ध, वनितागणको इन्द्रप्रस्थमें एवं सात्यकीपुत्रको सरस्वती-

नगरीमें बसा दिया। इन्द्रप्रस्थका राज्य-भार कृष्णके पौत्र वज्रको समर्पित किया। इस समय अक्रूरकी पत्नीगण परिव्रज्या ग्रहण करनेको उद्यत हुईं। वज्र उनको बारम्बार निषेध करने लगे, किन्तु किसी प्रकार भी नहीं मानी। रुक्मिणी, गान्धारी, शैब्या, हेमवती और देवी जाम्बवती—इन सबने अग्निमें प्रवेश करके प्राणत्याग किया। सत्यभामा आदि कृष्णकी अन्य पत्नियाँ तपस्या करनेके लिए वनमें जाकर फल-मूल भोजन करते हुए हिमालयको अतिक्रम करके कलापग्राममें उपस्थित हुईं। (कालीप्रसन्न सिंहका अनुवाद)।

इसके बाद स्वर्गारोहण—पर्वके पाँचवें अध्यायमें लिखा है—वासुदेव श्रीकृष्णकी सोलह हजार पत्नियाँ भी कालक्रमसे सरस्वतीके जलमें निमग्न होकर कलेवरका परित्याग करके अप्सरा-वेशमें उन श्रीकृष्णके साथ जा मिलीं। (कालीप्रसन्न सिंहका अनुवाद)।

उल्लिखित महाभारतकी उक्तिसे जाना जाता है कि सत्यभामा आदि श्रीकृष्ण-पत्नियोंने तपस्याके उद्देश्यसे इन्द्रप्रस्थसे वनमें गमन किया एवं रुक्मिणी, जाम्बवती आदिने इन्द्रप्रस्थमें ही अग्निमें प्रवेश किया। अर्थात् श्रीकृष्णकी आठ प्रधान महिषी अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थमें आयी थीं, अतएव उनका दस्युओंके द्वारा हरण नहीं हुआ, यही महाभारतसे जाना गया। बाकी सोलह हजार महिषीगणने इन्द्रप्रस्थमें आनेके बाद कालक्रमसे सरस्वतीके जलमें प्रवेश करके प्राणत्याग किया—अतएव उनका भी दस्युओंके द्वारा अपहरण नहीं हुआ—यह भी महाभारतसे जाना गया। इस प्रकार महाभारतसे जाना गया कि दस्युओंके द्वारा कोई भी श्रीकृष्णपत्नी अपहृत नहीं हुई, दस्युओंने अन्य रमणियोंका ही हरण किया था।

विष्णुपुराणके पञ्चमांशके ३८ वें अध्यायसे जाना जाता है—

अष्टौ महिष्यः कथिता रुक्मिणी प्रमुखास्तु याः।
उपगुह्य हरेर्देहं विविशुस्ता हुताशनम्॥

(वि० पु० ५. ३८. २)

रुक्मिणी आदि अष्ट प्रधान महिषियोंने हरिके देहको आलिंगन करके अग्निमें प्रवेश किया।' अतएव इन अष्ट-प्रधान महिषीगणका अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थकी ओर प्रस्थान करनेका एवं दस्युओं द्वारा अपहृत होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। विष्णुपुराणसे और भी जाना जाता है कि द्वारकावासियोंको लेकर अर्जुन जब पञ्चनद-प्रदेशमें आकर ठहरे हुए थे, तब अर्जुनके सामने ही आभीर दस्युगण सम्मानित यदुकुलकी श्रेष्ठ स्त्रियोंको लेकर चलते बने। इसके अनन्तर अर्जुनने व्यासदेवके पास जाकर दुःख-प्रकाश करते हुए जनाया कि आभीरदस्युओंने लाठियोंके द्वारा उसको हराकर उसके द्वारा लाये गये कृष्णपरिवारका एवं सहस्र-सहस्र स्त्रियोंका अपहरण किया है।

स्त्रीसहस्राण्यनेकानि मन्नाथानि महामुने।
यततो मम नीतानि दस्युभिर्लगुडायुधैः॥
आनीयमानमाभीरैः कृष्ण कृष्णावरोधनम्।
हृतं यष्टिप्रहरणैः परिभूय बलं मम॥

(वि० पु० ५. ३८. ५१–५२)

इस प्रकार विष्णुपुराणसे जाना गया कि अष्ट-प्रधान महिषीगणको छोड़कर बाकी सब महिषीगण दस्युगणके द्वारा अपहृत हुई थीं।

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धसे जाना जाता है कि रुक्मिणी आदि कृष्णपत्नियाँ मौसल-लीलाके बाद ही श्रीकृष्णमें चित्त-सन्निवेश करके अग्निमें प्रवेश कर गयीं।

कृष्णपत्न्योऽविशन्नग्निं रुक्मिण्याद्यास्तदात्मिकाः ॥
(श्रीम० भा० ११. ३१. २०)

और प्रथम स्कन्धसे जाना जाता है कि मौसल-लीलाके बाद द्वारकासे आये हुए अर्जुन युधिष्ठिरसे कह रहे हैं कि असत्गोप (आभीर) गण द्वारा मार्गमें श्रीकृष्णकी सोलह हजार पत्नियाँ उनके पाससे अपहृत हो गयीं।

सोऽहं नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन् गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोस्मि ॥
(श्रीम० भा० १.१५. २०)

उरुक्रमस्य परिग्रहं षोडशसहस्रं-स्त्रीलक्षणम्—श्रीधरस्वामी टीका। इस प्रकार श्रीमद्भागवतसे जाना जाता है कि रुक्मिणी आदि आठ प्रधान पत्नियोंने मौसल-लीलाके बाद ही अग्निमें प्रवेश करके प्राणत्याग किया है एवं बाकी सोलह हजार पत्नियाँ दस्युओंके द्वारा अपहृत हुई हैं। इस विषयमें विष्णुपुराण और श्रीमद्भागवतमें मतभेद नहीं है।

अब पूर्वोल्लिखित उक्तियोंके सम्बन्धमें कुछ समालोचना की जाय। महाभारतमें दस्युओंके द्वारा महिषीगणके अपहरणकी कथा न रहनेपर भी अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थमें आगमनके पश्चात् यथासमय उनमें-से किसी-किसीके परिव्रज्या-ग्रहण करनेकी बात, किसी-किसीके अग्निप्रवेशकी बात एवं किसी-किसीके सरस्वती-नदीके जलमें देह-विसर्जनकी बात देखनेमें आती है। इसको सत्य माननेपर यह भी स्वीकार करना होगा कि श्रीकृष्णके अन्तर्धानके पश्चात् भी बहुत दिनों तक महिषीगण प्रकट थीं एवं अन्तमें उन्होंने विभिन्न उपायोंके द्वारा देह-त्याग किया था। श्रीमद्भागवत एवं विष्णुपुराणसे जाना जाता है कि आठ प्रधान पत्नियोंने अग्निमें प्रवेश करके देहत्याग किया और बाकी पत्नियाँ दस्युओंके द्वारा अपहृत हो गयी थीं। इसको भी (अर्थात् वास्तविक पत्नियाँ इस प्रकार पतित हो गयी थीं) सत्य माननेपर यह भी स्वीकार करना होगा कि श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेपर भी उनकी अवस्थिति बनी रही एवं उन्होंने भी प्राकृत जीवकी तरह देहत्याग किया है एवं दस्युओंके हाथमें पड़ गयी थीं। किन्तु महिषीगणका विचार करनेपर यह स्वीकार नहीं किया जाता।

प्रद्युम्न आदिकी तरह महिषीगण भी श्रीकृष्णकी नित्य-परिकर हैं। वे भी जीव-तत्त्व नहीं हैं। वे भी शुद्धसत्त्व-विग्रह, सच्चिदानन्दमय हैं। अतएव उनके भी जन्म-मृत्यु नहीं हो सकते, आविर्भाव-तिरोभाव मात्र ही हो सकते हैं। इन सब कारणोंसे भूतलपर देह रखकर उनके लिए परलोक-गमन भी सम्भव नहीं हो सकता, अथवा दस्युओंके द्वारा उनका अपहरण भी सम्भव नहीं हो सकता। पूर्व मौसल-लीला सम्बन्धी आलोचनाके प्रसंगमें उल्लेख किया

गया है, कि श्रीरामचन्द्र—कान्ता श्रीसीतादेवीको राक्षस रावण स्पर्श नहीं कर सका; सीताके मायाकल्पित रूपको ही रावण हरण करके ले गया था। श्रीकृष्ण-महिषीगणको स्पर्श करनेकी सामर्थ्य भी किसी प्राकृत दस्युकी नहीं हो सकती। ऐसी हालतमें श्रीमद्भागवतादि शास्त्रकी उक्तियोंका क्या समाधान है ?

समाधान यही है कि यह समस्त व्यापार ही मौसल-लीलाकी तरह मायामय है। श्रीकृष्णने जब प्रद्युम्नादिको अन्तर्धापित कराया, तब अपनी पत्नियोंको भी एवं प्रद्युम्नादिकी पत्नियोंको भी अन्तर्धापित कराया था। साथ-साथ ही प्रद्युम्नादिकी तरह अपनी पत्नियोंके एवं प्रद्युम्नादिकी पत्नियोंके भी मायाकल्पित देह प्रकट हुए। अपनी इन मायाकल्पित देहको ही किसी-किसीने अग्निमें आत्मविसर्जन किया एवं कोई-कोई दस्युओं द्वारा अपहृत हुईं। जिन सब श्रीकृष्ण-पत्नियोंकी दस्युओंके हाथमें पड़नेकी कथा श्रीमद्भागतमें एवं विष्णुपुराणमें उल्लिखित हुई है, उनके सम्बन्धमें विष्णुपुराणसे और भी एक विशेष तथ्य अवगत होता है। उससे ही दस्युओंके द्वारा उनके अपहृत होनेका रहस्य अवगत हो जाता है। तथ्य यह है—

विष्णुपुराणका कहना है—पञ्चनद-प्रदेशमें दस्युओंके द्वारा महिषीगणके अपहृत होनेपर, व्यासदेवके पास जाकर अर्जुन सब वृत्तान्त बताकर शोक-प्रकाश करने लगे। तब व्यासदेवने अर्जुनको आश्वस्त करके कहा—'दस्युओंने स्त्रियोंको हरण कर लिया है, इसलिए तुम जो शोक करते हो, उसका विशेष वृत्तान्त मैं तुमको बताता हूँ। पूर्वकालमें अष्टावक्र नामक ऋषि सनातन ब्रह्म-चिन्तन करते हुए अनेक वर्षों तक जलमें वास कर रहे थे। उसी समय देवताओंने अनेक असुरोंको पराजित किया एवं उस उपलक्षमें सुमेरु पर्वतपर देवताओंका एक महोत्सव हुआ। अनेक देवनारियोंने भी इस महोत्सवमें योगदान किया था। महोत्सवमें जाते समय रम्भा, तिलोत्तमा आदि शत-सहस्र वरांगनाएँ पथमें आकण्ठ जल-निमग्न एक ऋषिके दर्शन करके उनको प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे उनकी स्तुति करने लगीं। उनके स्तवनसे प्रसन्न होकर ऋषिने कहा—तुम लोगोंकी स्तुतिसे मैं प्रसन्न हूँ, वर मांगो। तब रम्भा-तिलोत्तमा आदि वेद-प्रसिद्ध अप्सराएँ बोलीं—आपके प्रसन्न होनेपर हमारे लिए और अप्राप्य क्या रह गया ? कोई भी वर नहीं चाहिए। किन्तु अन्य देवांगनाओंने कहा—हे विप्रेन्द्र! यदि आप प्रसन्न हुए हैं, तो हम यही प्रार्थना करती हैं कि पुरुषोत्तम ही हमारे पति हों।

इतरास्त्वब्रुवन् विप्र प्रसन्नो भगवान् यदि।
तदिच्छामः पतिं प्राप्तं विप्रेन्द्र पुरुषोत्तमम् ॥

(वि० पु० ५. ३८. ७८)

मुनिवरने भी 'तथास्तु' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। मुनिवर अब तक आकण्ठ जलनिमग्न थे, इसलिए देवांगनाओंने उनके मुखके अतिरिक्त उनका और कोई भी अंग-प्रत्यंग नहीं देखा था। वर देनेके बाद ही मुनि जब जलसे निकले, तब उनके अंगोंकी अष्टवक्रता देखकर वरांगनागण हास्य संवरण नहीं कर सकीं। इससे रुष्ट होकर मुनिवरने उनको शाप दिया—

मत्प्रसादेन भर्तारं लब्ध्वा तं पुरुषोत्तमम् ।
मच्छापोपहताः सर्वाः दस्युहस्तं गमिष्यथ ॥ (वि० पु० ५. ३८. ८२)

—मेरे वरसे तुमलोग पुरुषोत्तमको पति रूपमें पावोगी अवश्य, किन्तु सभी दस्युओंके हाथों पड़ोगी श्रीमद्भागवतके ।

वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः ।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ॥ (श्रीम० भा० १०. १. २३)

इस श्लोककी टीकामें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तीने लिखा है—उपेन्द्रादि जो सब मन्वन्तरावतारगण सुरलोकमें रहते हैं, उनकी पत्नियोंको ही यहाँ सुर-स्त्री कहा गया है—
'सुरस्त्रियः—तत्प्रियांशभूताया उपेन्द्रादिमन्वन्तरावतारस्त्रियः' ।

ये हैं अंशभूता श्रीकृष्ण-प्रेयसी । द्रोण-धरा जिसप्रकार नन्द-यशोदाके रूपमें प्रकट हुए उसी प्रकार श्रीकृष्ण-पत्नी होकर देवाङ्गनाएँ । ब्रह्माके आशीर्वादसे द्रोण-धराका अवतरण हुआ तो अष्टावक्रके वरदानसे दिव्याङ्गनाओंका ।

···तेनैवाखिलनाथेन सर्वं तदुपसंहृतम् । (वि० पु० ५. ३८. ८५)

—अखिलः पूर्ण एव नाथः कृष्णस्तेन तत्सर्वं तत्प्रियावृन्दम् । उप निकट एवं सम्यक्प्रकारेण हृतं अर्जुनात् स्वकाशात् गृहीतमित्येव व्याख्येयम् । श्रीमद्भागवत १. १५. २०. श्लोककी टीकामें चक्रवर्तीपाद । उनकी अंशिनी महिषीगणके देहमें प्रवेश करके जो भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा उपभुक्त हुई थीं, अन्य दस्युओंके लिये उनका स्पर्श भी सम्भव नहीं । श्रीकृष्णकी मायाके प्रभावसे अर्जुन-जैसा वीर भी हतवीर्य हो गया । इस प्रकार मौसल-लीलाकी तरह महिषी-हरण भी मायामय है ।

कोई-कोई कहते हैं कि श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेके पश्चात् अपनी पुत्रवधुओंको व्रजमें लानेके लिये श्रीमन्नन्दमहाराजने गोपगणको भेजा था; मार्गमें अर्जुनके साथ साक्षात् होनेपर उनके पाससे वे उन्हें ले आये । यह समाधान विचारयुक्त नहीं है । कारण, द्वारकामें श्रीकृष्णके अन्तर्धानके बहुत पहले ही श्रीमन्नन्द महाराज आदि श्रीकृष्णके व्रज-परिकरगण अप्रकट-लीलामें प्रवेश कर चुके थे । दन्तवक्रके वधके पश्चात् श्रीकृष्ण एकबार व्रजमें आये थे, तब दो महीनोंतक व्रजमें प्रकट-विहार करके, सब व्रजपरिकरोंके सहित स्वयंने अप्रकट-प्रकाशमें प्रवेश किया एवं एक प्रकारसे द्वारकामें जाकर लीला करने लगे । द्वारकाके इस प्रकाशका ही जरा व्याधके शराघातके व्यपदेशसे अन्तर्धान हुआ है । अतएव अर्जुन जब महिषीगणको लेकर हस्तिनापुर जा रहे थे, तब नन्द-महाराज या उनके अनुचर गोपगण कोई भी प्रकट नहीं थे—इसलिए उनके द्वारा महिषीगणका हरण भी असम्भव है ।

●

यत्र योगेश्वरः कृष्णः

डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०

★

स्थूल रूपसे धार्मिक परम्पराओंको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है। १. जीवनलक्ष्यी और २. मृत्युलक्ष्यी। वैदिक और वैष्णव परम्पराएँ जीवनलक्ष्यी हैं। वे पुरुषार्थ अथवा भक्ति द्वारा वर्तमान जीवनको समृद्ध बनाना चाहती हैं। वेदोंका स्वर है—

'जीवेम शरदः शतम्, श्रुणुयाम शरदः शतम्, प्रब्रवाम शरदः शतम्, अदीना स्याम शरदः शतम्।'

हम सौ वर्ष तक जीयें सौ वर्ष तक सुनते और बोलते रहें, कभी दीनता न आये।

अध्ययनसे पता चलता है कि प्रारम्भमें वैदिक परम्पराने त्रिवर्गपर ही बल दिया था। वे हैं—धर्म, अर्थ और काम। इनमें काम अर्थात् इच्छापूर्त्ति साध्य है। अर्थ उसका साधन और धर्म-नियामक। उसका कथन था कि जो व्यक्ति धर्मको छोड़कर अर्थ प्राप्ति और कामतृप्ति करना चाहता है वह समाजके लिए घातक बन जाता है और अन्तमें अपना जीवन भी नष्ट कर लेता है। ईशोपनिषद्में आया है कि—

कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजीविषेच्छतं समा।

अर्थात् व्यक्तिको कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीनेकी इच्छा करनी चाहिए।

कालान्तरमें जब संन्यासको महत्त्व देनेवाली अन्य परम्पराओंका सम्मिश्रण हो गया तो मोक्षको भी चतुर्थ पुरुषार्थ रूपमें स्वीकार कर लिया गया और उसके लिए वृद्धावस्थाको चुन लिया। कणाद तथा गौतमने मोक्षके लिए निःश्रेयस शब्दका प्रयोग किया है। इससे पता चलता है कि वह अवस्था जीवन अथवा अभ्युदयके क्रममें नहीं आती थी। निःश्रेयस्का शब्दार्थ है—श्रेयस्से परेकी अवस्था। न्यायदर्शनके अनुसार वहाँ चेतना भी नहीं रहती। वह महत्त्वाकांक्षाका लक्ष्य नहीं हो सकती। इसके विपरीत जो व्यक्ति जीवनसे हार गया है, जो केवल कष्टोंसे छुटकारा चाहता है चाहे उसके लिए मरना ही पड़े वह अपना लक्ष्य मोक्षको बनाता है। बौद्ध परम्पराने तो स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया कि वहाँ कुछ नहीं रहता। आत्मा दीपशिखाके समान है और उसका बुझ जाना ही निर्वाण या मोक्ष है।

उत्तरवर्ती कालमें मोक्षका स्वर तीव्र हो गया और उसने भारतीय संस्कृतिको निवृत्ति-प्रधान बना दिया। वस्तुतः देखा जाय तो यह जीवनसे भागनेका स्वर है। वेदान्त नैष्कर्म्यपर बल देता है किन्तु साधारण व्यवहारमें ऐसे व्यक्तिको निकम्मा कहा जाता है।

ऊपर प्रवृत्तिप्रधान शाखाकी दो धाराएँ बतायी गयी हैं। वैदिक कर्ममार्ग और वैष्णव भक्तिमार्ग। समय बीतनेपर वैदिक-परम्परा सिद्धान्त एवं मर्यादाओंमें जकड़ी गयी।

भगवान् रामचन्द्र इसी आदर्शको उपस्थित करते हैं। उन्हें मर्यादापुरुषोत्तम कहा जाता है। किन्तु जीवन सिद्धान्तोंकी पकड़में नहीं आता। समय तीव्रगतिसे दौड़ रहा है। मनुष्यके सामने ऐसी परिस्थितियां आ रही हैं जिनकी कभी कल्पना भी नहीं थी। प्रश्न होता है ऐसी स्थितिमें मार्गदर्शक किसे बनाया जाय।

इन प्रश्नका उत्तर भगवद्गीतामें मिलता है। महर्षि व्यासने सैद्धान्तिक चर्चामें न पड़कर जीवनका पर्यालोचन किया और उसके विविध पक्षोंको लेकर महाभारतकी रचना की। उसका सार गीताके अठारह अध्यायोंमें प्रस्तुत किया और उसका सार निम्नलिखित श्लोकमें।

यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयोभूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम॥

व्यासजी कहते हैं कि जहाँ योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थ हैं वहींपर लक्ष्मी, सफलता तथा समस्त सम्पत्तियाँ विराजती हैं। यही मेरी नीति है और यही मान्यता अर्थात् सिद्धान्त। यहाँ योगका अर्थ है योजना अथवा काम करनेका ढंग। दूसरे अध्यायमें आया है 'योगः कर्मसु कौशलम्।' भगवान्को योजनाध्यक्ष बनानेका अर्थ है उनके स्वार्थको अपना स्वार्थ मानना, उनके सुखको अपना सुख और उनके मंगलको अपना मंगल। किन्तु भगवान् तो अपने आपमें पूर्ण हैं। उनका अमंगल कौन कर सकता है। यहाँ इसका अर्थ है भगवान्के परिवारका मंगल। वह समस्त विश्वका पिता है, प्रत्येक स्त्री-पुरुष उसकी सन्तान है। उन्हें सुख पहुँचाना ही भगवान्का सुख है। तुलसीदासने तो प्रत्येक व्यक्तिको सीतारामके रूपमें देखनेको कहा है—

सीयराममय सब जग जानी,
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी।

अर्थात् मैं समस्त विश्वको सीता और रामके रूपमें देखता हूँ तथा हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ।

भगवान्को सारथि बनानेका अर्थ है कि प्रत्येक कार्य विश्वमंगलकी भावनासे करना।

पार्थका अर्थ है जीवात्मा। उसे चाहिए कि परमात्माके संकेतका ध्यान रखे और जो आदेश मिले करता चला जाय। ऐसी स्थितिमें मनुष्य उत्तरोत्तर उन्नति करेगा और वह स्वयं अपने लिए तथा परिवार, समाज, राष्ट्र, एवं समस्त विश्वके लिए मंगल बन सकेगा।

गीतामें हमारे व्यक्तित्वकी उपमा रथसे दी गयी है। आत्मा रथका स्वामी है। शरीर रथ है। बुद्धि अर्थात् विचार-शक्ति सारथि है। मन अर्थात् इच्छा-शक्ति लगाम और इन्द्रियाँ घोड़े। जिस रथमें लगामपर सारथिका नियन्त्रण होता है वह लक्ष्यपर पहुँच जाता है किन्तु यदि लगाम सारथिके हाथसे छूट गया तो घोड़े मनमानी दौड़ लगायेंगे। रथ टूट जायेगा। इसी प्रकार जीवन-रूपी रथमें मन-रूपी लगामपर बुद्धि-रूपी सारथिका नियन्त्रण होना चाहिए अर्थात् इच्छाशक्ति विचार-शक्तिके हाथमें रहे। इसके विपरीत यदि इच्छापर विचारका नियन्त्रण नहीं होता तो इन्द्रियाँ मनमानी दौड़ लगाती है और जीवनको नष्ट कर डालती हैं। इसीलिये कहा गया है।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

विज्ञानका अर्थ है विवेचन-शक्ति, भले-बुरेकी पहचान । अर्जुनने यह काम भगवान्को दे दिया और निश्चिन्त हो गया । उन्होंने कहा **'मामनुस्मर युध्य च'** मुझे याद रखो और युद्ध करते जाओ । इसका अर्थ है विश्वकल्याणको लक्ष्यमें रखकर संघर्ष करते जाना ।

भक्तिके तीन रूप हैं ।

१. क्रिया, २. भाव, ३. महाभाव । हाथ जोड़ना, शिर झुकाना, पुष्प-पत्र आदि अर्पित करना क्रिया-भक्ति है । यह केवल भावना अथवा प्रेम जागृत करनेके लिए होती है । यदि ऐसा करनेपर भी उपास्यके प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं होता तो वह व्यर्थ है । इसके विपरीत जिस मनमें आकर्षण भरा है वह कुछ न करनेपर भी परम भक्त है । शिशु माँको न हाथ जोड़ता है न प्रणाम करता है । नववधू अपने प्रियतमके सामने लज्जासे शिर झुकाये खड़ी रहती है न बोलती है न कुछ करती है किन्तु दोनोंमें भक्तिका प्राचुर्य रहता है । इस तथ्यको लेकर छः भावोंका निरूपण किया गया है । भक्तिमार्ग इस बातको महत्त्व नहीं देता कि आकर्षणका क्या रूप है ।

हम अपने उपास्यको स्वामी, सखा, माता, पिता, पुत्र, पति अथवा उपपति कुछ भी मान सकते हैं । आवश्यकता आकर्षणकी है, मनमें प्रेम आते ही सारी मर्यादायें पीछे छूट जाती हैं । प्रत्येक चेष्टा सहज प्रेरणाका रूप ले लेती है ।

अनुभूतिका प्रारम्भ विभिन्न भावोंको लेकर होता है किन्तु परिपाक होनेपर सब एक ही रसमें परिणत हो जाते हैं केवल आकर्षण बाकी बचता है । इस बातका ध्यान नहीं रहता कि मैं सेवक, मित्र; पुत्र अथवा क्या हूँ । इसी अवस्था को महाभाव अथवा रस कहा जाता है ।

ऊपर बताया जा चुका है कि भगवान् श्रीकृष्ण सिद्धान्तवादी नहीं थे, वे जीवनको लेकर चले । उन्हें आनन्दावतार कहा जाता है । वे जानते थे कि किस प्रकार समस्याओंका समाधान करना चाहिए । स्त्री तथा पुरुष, शिक्षित तथा अनपढ़, पुरुषार्थी, आलसी तथा भीरु, प्रत्येक वर्गके साथ कैसे रहना चाहिए और उन्हें अपना जीवन सुखी बनानेके लिए कौन-सा रास्ता अपनाना चाहिए । भगवद्गीतामें इन्हीं बातोंकी चर्चा है । जो अर्जुन व्यामोहके कारण कायर बन गया था वह अन्तमें कहता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

हे अच्युत ! मेरा मोह दूर हो गया । चेतना लौट आयी, सन्देह दूर हो गये । जो तुम कहोगे वही करूँगा ।

यहाँ अच्युत शब्द ध्यान देने योग्य है । भगवान् कृष्ण साधनाके रूपमें विभिन्न मार्ग अपनाते थे किन्तु साध्यसे विचलित नहीं होते थे । अच्युतका अर्थ है—लक्ष्यपर स्थिर रहनेवाला । अर्जुन पारिवारिक मोहमें पड़कर लक्ष्य भ्रष्ट हो गया था । भगवान्ने उसे पुनः स्थिर कर दिया । अच्युतने भक्तको भी अच्युत बना दिया । ●

जून मासके व्रत-त्यौहार

गंगादशहरा

३ जून ज्येष्ठ शु० गुरुवार

निर्जला एकादशी (भीमसेनी एकादशी)

४ जून ज्येष्ठ शु० ११ शुक्रवार

प्रदोषव्रत

६ जून ज्येष्ठ शु० १३ रविवार

पूर्णिमा (दाक्षिणात्य वटसावित्री)

८ जून ज्येष्ठ शु० १५ मंगलवार

स्नानदादि पूर्णिमा (गुरु हरगोविन्द सिंह जयन्ती)

९ जून ज्येष्ठ शु० १५ बुधवार

गणेशचतुर्थी व्रत

१२ जून आषाढ़ कृष्ण ४ शनिवार

शीतलाष्टमी

१६ जून आषाढ़ कृ० ८ बुधवार

योगिनी एकादशीव्रत

१९ जून आषाढ़ कृ० ११ शनिवार

प्रदोषव्रत

२० जून आषाढ़ कृ० १२ रविवार

मास शिवरात्रि-व्रत

२१ जून आषाढ़ कृ० १३ सोमवार

स्नान-दान-श्राद्धकी अमावस्या

२२ जून आषाढ़ कृ० ३० मंगलवार

रथयात्रा

२४ जून आषाढ़ शु० २ गुरुवार

गणेशचतुर्थी

२६ जून आषाढ़ शु० ४ शनिवार

कुमार-षष्ठी

२८ जून आषाढ़ शु० ६ सोमवार

सूर्यसप्तमी

२९ जून आषाढ़ शु० ६ मंगलवार

निगमामृत

(अन्नदाताकी महिमा, अदाता मित्रके पास न जाय)

स इद् भोजो यो गृहवे
ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता
उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥

कृश-शरीर है माँग रहा घर आकर दाना-पानी,
ऐसे प्रतिग्रही याचकको जो देता वह दानी।
यज्ञोंमें पूरा-पूरा फल उसको ही मिल पाता,
शत्रुमण्डलीमें भी वह है सबको मित्र बनाता ॥

न स सखा यो न ददाति सख्ये
सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति
पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥

संगी अपना अंग सखा जो रखता स्नेह सही है,
उसको भी जो अन्न न देता, वह तो मित्र नहीं है।
उसे छोड़ हट जाय दूर नर उसका गेह नहीं वह,
अन्य किसी दाताका आश्रय करले ग्रहण कहीं वह ॥

[ऋग्वेद १०।११७।३–४]

पंजीयन सं० एल-८२७

सूक्ति-सुधा

उत्तम, मध्यम, अधम और ... मनुष्य

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

थोड़े लोग ऐसे साधु पुरुष प्रधान जो कि
स्वार्थ छोड़कर होते पर-उपकारी हैं,
साधारण वे जो स्वार्थ-साधनामें बाधा विना
पर-हित-हेतु भी प्रयास-रत भारी हैं।
मानव नहीं वे दुष्ट दानव दयासे शून्य
स्वार्थके लिए जो परहित-अपहारी हैं,
पर-हित-मारणमें कारण बिना जो लगे
वे हैं कौन? कौन कहे, मति-गति हारी है॥

ऐसे सन्त कितने हैं?

मनसि वचसि काये प्रेमपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

प्रीति सुधा-सानी मृदु बानी जिनकी है और
प्रेमके पीयूषसे ही पूर्ण तन-मन हैं,
अपरमपार उपकारकी परम्परासे-
जिनकी प्रसन्न परितृप्त त्रिभुवन है।
परगुण-लेश परमाणु-निर्विशेषको भी
मानके नगेशसे महान जो मगन हैं,
विमल विकास युक्त हियमें हुलास भरे
कितने वसन्त-से सुखद सन्त-जन हैं॥

●

श्रीकृष्ण जन्मस्थान-सेवासंघ मथुराके लिए देवधरशर्मा द्वारा आनन्दकानन प्रेस, ढुण्ढिराज, वाराणसी-१ में मुद्रित एवं प्रकाशित